Published by:—
Prof. J. B. Seth I. E. S. (Retd.)
Secretary, Publication Bureau
Panjab University.

प्रथम संस्करण, १९५०
मूल्य २)

All rights including those of translation, reproduction, annotation and notes etc. are reserved by the Panjab University.

Printed by—
L. Khazanchi Ram Jain,
Manager, Manohar Electric Press,
Kucha Chailan, Faiz Bazar,
Darya Ganj, Delhi

प्राक्कथन

हिन्दी के सरल निबन्धों का यह संग्रह हिन्दी के प्रारम्भिक छात्रों के लिए तैयार किया गया है। इसमें हिन्दी-निबन्ध के प्रथम आचार्य पं० बालकृष्ण भट्ट से लेकर आजकल के उदीयमान लेखकों तक का समाहार किया गया है। इस प्रकार यह संग्रह पिछले लगभग एक सौ वर्षों की निबन्ध-प्रगति का प्रतिनिधित्व करता है।

निबन्धों के चुनाव में जहां विषयों की विविधता और उपादेयता का विचार रखा गया है, वहां प्रारम्भिक छात्रों की बौद्धिक क्षमता पर भी पूरा ध्यान दिया गया है। भाषा का काठिन्य और प्रतिपाद्य विषय का गाम्भीर्य उनकी कोमल ग्राहक-शक्ति के अनुरूप ही रखने का यत्न किया गया है।

लेखों के संकलन में कालानुक्रम का अनुसरण किया है। इसका विशेष लाभ यह है कि इसके द्वारा जहां विषय-भेद और रुचि-वैचित्र्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता, वहां भाषा और भावों के क्रमिक विकास का और लेखकों के परस्पर भाव-सादृश्य और भावों के आदान-प्रदान का भी एक स्पष्ट चित्र मिल जाता है।

लेखकों के सम्बन्ध की साधारण जानकारी 'लेखक-परिचय' में दी गई है और सुकुमारमति छात्रों की सुकरता के लिए, अन्त में, एक [illegible]

अन्त में मैं उन सब लेखकों और प्रकाशकों के प्रति कृतज्ञता प्रकाश करता हूँ जिन्होंने अपने निबन्धों को इस संग्रह में सम्मिलित करने की अनुमति देकर हिन्दी के प्रसार में सहयोग प्रदान किया है वस्तुतः सरस्वती की सेवा के कारण वे सभी सरस्वती-भक्तों के धन्यवाद के पात्र हैं।

पंजाब यूनिवर्सिटी
अंग्रेजी विभाग
शिमला
१२-१-५०

—रघुनन्दन

लेख-लतिका

जिसे शास्त्रार्थ कहते हैं, कभी आवेगा ही नहीं। मुर्ग और बटेर की लड़ाइयों की झपटा-झपटी के समान उनकी नीरस काँव-काँव में सरस संलाप की तो चर्चा ही चलाना व्यर्थ है, वरन् कपट और एक-दूसरे को अपने पाण्डित्य के प्रकाश से बाद में परास्त करने का संघर्ष आदि रसाभास की सामग्री वहाँ बहुतायत के साथ आपको मिलेगी। घंटे भर तक काँव-काँव करते रहेंगे तो कुछ न होगा। बड़ी-बड़ी कंपनी और कारखाने आदि बड़े-से-बड़े काम इसी तरह पहले दो-चार दिली दोस्तों की बातचीत से ही शुरू किये गए। उपरांत बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़े कि हजारों मनुष्यों की उनसे जीविका चलने लगी और साल में लाखों की आमदनी होने लगी। पचीस वर्ष के ऊपरवालों की बातचीत अवश्य ही कुछ-न-कुछ सारगर्भित होगी,—अनुभव और दूरदर्शिता से खाली न होगी और पचीस से नीचे की बातचीत में यद्यपि अनुभव, दूरदर्शिता और गौरव नहीं पाया जाता पर इसमें एक प्रकार का ऐसा दिलबहलाव और ताजगी रहती है जिसकी मिठास उससे दस गुना बढ़ी-चढ़ी है।

यहाँ तक हमने बाहरी बातचीत का हाल लिखा है जिसमें दूसरे फ़रीक* के होने की बहुत आवश्यकता है, बिना किसी दूसरे मनुष्य के हुए जो किसी तरह संभव नहीं है और जो दो ही तरह पर हो सकती है—या तो कोई हमारे यहाँ कृपा करे या हमीं जाकर दूसरे को कृतार्थ करें। पर यह सब तो दुनियादारी है जिसमें कभी-कभी रसाभास होते देर नहीं लगती, क्योंकि जो महाशय अपने यहाँ पधारें उनकी पूरी दिलजोई न हो सकी तो शिष्टाचार में त्रुटि हुई। अगर हमीं उनके वहाँ गये तो पहले तो बिना बुलाये जाना ही अनादर का मूल है और जाने पर अपने मन-माफ़िक बर्ताव न किया गया तो मानो एक दूसरे प्रकार का नया घाव हुआ। इसलिए सबसे

जब राजकोट गये तब मेरी उम्र कोई सात साल की होगी। राजकोट की देहाती पाठशाला में मैं भरती कराया गया। उन दिनों का मुझे भली-भांति स्मरण है। मास्टरों के नाम-धाम भी याद हैं। पोरबन्दर की तरह वहां की पढ़ाई के सम्बन्ध में कोई खास बात जानने लायक नहीं। मेरी गिनती साधारण श्रेणी के विद्यार्थियों में रही होगी। पाठशाला के ऊपर के स्कूल में और वहां से हाईस्कूल तक पहुँचने में मेरा बारहवां वर्ष बीत गया। तब तक मैंने कभी शिक्षक आदि से झूठ बोला हो, ऐसा याद नहीं पड़ता। न किसी को दोस्त बनाने का स्मरण है। मैं बहुत संकोची* लड़का था; मदरसे में अपने काम से काम रखता। घंटी बजते-बजते पहुँच जाता और स्कूल बन्द होते ही घर भाग आता। 'भाग आता' शब्द का प्रयोग जान बूझ कर किया है; क्योंकि मुझे किसी के साथ बातें करना नहीं रुचता था—मुझे यह डर भी बना रहता था कि कोई मेरा मजाक न उड़ावे।

हाईस्कूल के पहले ही वर्ष की परीक्षा के समय की एक घटना उल्लेखनीय* है। शिक्षा-विभाग के इंस्पेक्टर, जाइल्स साहब, मुआइने* के लिए आये। उन्होंने पहले दरजे* के विद्यार्थियों को पांच शब्द लिखवाये। उनमें एक शब्द था—'केटल' (Kettle)। उसके हिज्जे मैंने गलत लिखे। मास्टर ने मुझे अपने बूट से ठोकर देकर चेताया; पर मैं कहां समझने वाला था? मेरे दिमाग में यह बात नहीं आई कि मास्टर साहब मुझ सामने के लड़के की स्लेट देखकर हिज्जे दुरुस्त करने का इशारा कर रहे हैं। मैंने यह मान रखा था कि मास्टर तो इसलिए [illegible]* है कि कोई लड़का दूसरे की नकल न कर सके। सब [illegible] नहीं निकले, अकेला मैं ही बेवकूफ बच [illegible] बाद को मास्टर ने बतलाई। पर मेरे मन

नाटक देखने की छुट्टी मिली। इसमें हरिश्चन्द्र की कथा थी। यह नाटक देखने से मेरी तृप्ति नहीं होती थी। बार-बार उसे देखने को मन हुआ करता, पर बार-बार जाने कौन देता? पर अपने मन में मैंने हरिश्चन्द्र का नाटक सैंकड़ों बार खेला होगा। हरिश्चन्द्र के सपने आया करते। यही धुन लगी कि हरिश्चन्द्र की तरह सत्यवादी सब क्यों न हों? यही धारणा* होती कि हरिश्चन्द्र के जैसी विपत्तियां भोगना और सत्य का पालन करना ही सच्चा सत्य है। मैंने तो यही मान रखा था कि नाटक में जैसी विपत्तियां हरिश्चन्द्र पर पड़ी हैं, वैसी ही वास्तव में उस पर पड़ी होंगी। हरिश्चन्द्र के दुःखों को देख कर और उन्हें याद करके मैं खूब रोया हूँ। आज मेरी बुद्धि कहती है कि संभव है, हरिश्चन्द्र कोई ऐतिहासिक* व्यक्ति न हो, पर मेरे हृदय में तो हरिश्चन्द्र और श्रवण आज भी जीवित हैं। मैं मानता हूँ कि आज भी यदि मैं उन नाटकों को पढ़ूँ तो आँसू आये बिना न रहें।

(२) हाई स्कूल में

जब मेरा विवाह हुआ तब मैं हाई स्कूल में पढ़ता था। हाई स्कूल में मैं मन्द-बुद्धि विद्यार्थी नहीं माना जाता था। शिक्षकों का प्रेम तो मैंने सदा प्राप्त किया था। हर साल माता-पिता को विद्यार्थी की पढ़ाई तथा चाल-चलन के सम्बन्ध में प्रमाणपत्र भेजे जाते थे। इनमें किसी दिन मेरी पढ़ाई या चाल-चलन की शिकायत नहीं की गई। दूसरे दरजे के बाद इनाम भी पाये और पांचवें तथा छठे दरजे में तो क्रमशः ४) और १०) मासिक की छात्रवृत्तियां* भी मिली थीं। इस सफलता में मेरी योग्यता की अपेक्षा भाग्य का ज्यादा जोर था। ये छात्रवृत्तियां सब लड़कों के लिए नहीं, सौराष्ट्र प्रान्त* के विद्यार्थियों के ही लिए थीं और उस समय चालीस पचास

की आदत मुझे पड़ गई, जो अब तक है। घूमना भी व्यायाम तो है ही; और इससे मेरा शरीर ठीक-ठीक गठीला हो गया।

व्यायाम की जगह घूमना जारी रखने की वजह से शरीर से कसरत न करने की भूल के लिए तो मुझे सजा नहीं भोगनी पड़ी, पर दूसरी एक भूल की सजा मैं आज तक भोग रहा हूँ। पता नहीं कहां से, यह गलत खयाल मुझे मिल गया था कि पढ़ाई में सुलेख* की जरूरत नहीं है। यह विलायत जाने तक बना रहा। बाद में तो मैं पछताया और शरमाया। मैंने समझा कि अक्षरों का खराब होना अधूरी शिक्षा की निशानी है। अतः हरेक नवयुवक और युवती मेरे इस उदाहरण से सबक ले और समझे कि सुन्दर अक्षर शिक्षा का आवश्यक अंग हैं।

इस समय के मेरे विद्यार्थी-जीवन की दो बातें लिखने-जैसी हैं। चौथे दरजे से कुछ विषयों की शिक्षा अंग्रेजी में दी जाती थी, पर मैं कुछ समझ ही नहीं पाता था। रेखागणित में मैं यों भी पीछे था, और फिर अंग्रेजी में पढ़ाये जाने के कारण और भी समझ में न आता था। शिक्षक समझाते तो अच्छा थे; पर मेरी समझ में न आता था। मैं बहुत बार निराश हो जाता। परिश्रम करते-करते जब रेखागणित की तेरहवीं शक्ल पहुँचा, तब मुझे एकाएक लगा कि रेखागणित तो सब से आसान विषय है। जिस बात में केवल बुद्धि का सीधा और सरल प्रयोग ही करना है उसमें मुश्किल क्या है? उसके बाद से रेखागणित मेरे लिए सहज और मजेदार विषय हो गया।

संस्कृत मुझे रेखागणित से भी अधिक मुश्किल मालूम पड़ी। रेखागणित में तो रटने की कोई बात न थी, परन्तु संस्कृत में मेरी दृष्टि से अधिक काम रटने का ही था। यह विषय भी चौथी कक्षा से शुरू होता था। छठी कक्षा में जाकर तो मेरा दिल बैठ गया। संस्कृत-शिक्षक बड़े सख्त थे। विद्या-

तरह विकृत साहित्य से मस्तिष्क भी विकारग्रस्त* होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान् और शक्तिसंपन्न होना अच्छे ही साहित्य पर अवलंबित है। अतएव यह बात निर्भ्रान्त है कि मस्तिष्क के यथेष्ट विकास का एकमात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और सभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की बराबरी करना है तो हमें श्रम-पूर्वक, बड़े उत्साह से, साहित्य का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए। और यदि हम अपने मानसिक जीवन की हत्या करके अपनी वर्तमान दयनीय दशा में पड़ा रहना ही अच्छा समझते हों तो आज ही साहित्य-निर्माण के आडम्बर का विसर्जन* कर डालना चाहिए।

आँख उठाकर ज़रा और देशों तथा जातियों की ओर तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे-कैसे परिवर्तन कर डाले हैं। साहित्य ने वहाँ समाज की दशा कुछ-की-कुछ कर दी है; शासन-प्रबंध में बड़े-बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं; यहाँ तक कि अनुदार और धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है, वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पाटन साहित्य ही ने किया है। जातीय स्वातंत्र्य के बीज उसी ने बोए हैं। व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के भावों को भी उसी ने पाला, पोसा और बढ़ाया है। पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता* को किसने कम किया है? फ्रांस में प्रजा की सत्ता* का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रान्त इटली* का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने साहित्य ने। जिस साहित्य में इतनी [illegible] है [illegible]

प्राप्त कर लेने और उसमें महत्वपूर्ण ग्रन्थ-रचना करने पर भी विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो सकती और अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। अपनी मां को निःसहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़ कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा-शुश्रूषा में रत है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तंब ही कर सकता है।

मेरा यह मतलब कदापि नहीं कि विदेशी भाषाएँ सीखनी ही न चाहिएँ। नहीं, आवश्यकता, अनुकूलता, अवसर और अवकाश होने पर हमें एक नहीं, अनेक भाषाएँ सीख कर ज्ञानार्जन करना चाहिए; द्वेष किसी भाषा से न करना चाहिए; ज्ञान कहीं भी मिलता हो उसे ग्रहण ही कर लेना चाहिए। परन्तु अपनी ही भाषा और उसी के साहित्य को प्रधानता देनी चाहिए; क्योंकि अपना, अपने देश का, अपनी जाति का उपकार और कल्याण अपनी ही भाषा के साहित्य की उन्नति से हो सकता है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राजनीति की भाषा सदैव लोकभाषा ही होनी चाहिए। अतएव अपनी भाषा के साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि करना, सभी दृष्टियों से, हमारा परम धर्म है।

क्या जानवर भी सोचते हैं?

(श्री पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी)

जानवरों से हमारा मतलब पशुओं से है। क्या पशु भी विचार करते हैं, सोचते हैं, समझ रखते हैं या चिंतना करते हैं? हार्पर्स मैगज़ीन-नामक एक अंग्रेज़ी सामयिक पुस्तक में, एक

जानवरों में मानसिक व्यापार के कोई चिन्ह नहीं देख पड़ते। किसी आंतरिक प्रवृत्ति, उत्तेजना या शक्ति की प्रेरणा से ही वे सब शारीरिक व्यापार करते हैं। किसी मतलब से कोई काम करना बिना ज्ञान के—बिना बुद्धि के—नहीं हो सकता। ज्ञान दो तरह का है—स्वाभाविक* और उपार्जित।* स्वाभाविक पशुओं में और उपार्जित मनुष्यों में होता है। हम सब काम सोच-समझ कर जैसा करते हैं, जानवर वैसा नहीं करते। उनमें विचार-शक्ति ही नहीं है; उनके मन में विचारों के रहने की जगह ही नहीं; क्योंकि वे बोल नहीं सकते। ठीक-ठीक विचारणा या भावना बिना भाषा के नहीं हो सकती। भाषा ही विचार की जननी है। भाषा ही से विचार पैदा होते हैं। वाणी और अर्थ का योग सिद्ध ही है। शब्दों से अर्थ या विचार उसी तरह अलग नहीं हो सकते, जैसे पदार्थों के आकार उनसे अलग नहीं हो सकते। जहां आकार देख पड़ता है, वहां पदार्थ जरूर होता है। जहाँ विचार होता है, वहाँ भाषा जरूर होती है। बिना भाषा के विषय-ज्ञान और विषय-प्रवृत्ति इत्यादि-इत्यादि बातें हो सकती हैं, परन्तु विचार नहीं हो सकता। पशु अपनी इंद्रियों की सहायता से ही पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। जो पदार्थ समय और आकाश में विद्यमान रहते हैं, सिर्फ उन्हीं का ज्ञान पशुओं को इन्द्रियों से होता है, और पदार्थों का नहीं। पशुओं में स्मरण-शक्ति नहीं होती, पुरानी बातें उन्हें याद नहीं रहतीं। यही पूर्वोक्त साहब का मत है।

इनमें से बहुत-सी बातों का खंडन हो सकता है। कुछ का खंडन लोगों ने किया भी है। विचार क्या चीज है? सोचना किसे कहते हैं? सिर में एक प्रकार के ज्ञान-तंतु हैं। बाहरी जगत् की किसी चीज या शक्ति का प्रतिबिंब-रूपी ठप्पा, जो उन तंतुओं पर उठ आता है, उसी का नाम विचार है। जितने

कालिदास ने रघुवंश लिखा और भवभूति ने उत्तररामचरित। पर किस तरह उनके मन में इनको लिखने की बात आई? आप-ही-आप। विचार करने की जरूरत नहीं पड़ी। पहले-पहल उनके मस्तिष्क में इनको लिखने की इच्छा स्वतः संभूत* हुई। संसार में एक भी मनुष्य ऐसा नहीं हुआ, जिसने अपनी इच्छा से कोई ऐसा काम किया हो, जिसका या जिस की सामग्री का अस्तित्व पहले ही से विद्यमान न रहा हो।

यदि कोई जानवर कोई काम किसी इरादे से करे, और जिस ज्ञानात्मिका बुद्धि से वह इरादा पैदा हुआ हो, वह बुद्धि स्वाभाविक हो तो उससे क्या? उससे कोई नया सिद्धांत नहीं निकलता। चाहे वह स्वाभाविक हो, चाहे उपार्जित—बात वही रहती है। उससे ज्ञान का न होना—बुद्धि का न होना—नहीं साबित होता। ज्ञान चाहे जिस प्रकार का हो, वह है तो। ताजमहल की कल्पना करनेवाले में भी ज्ञान था, और घोंसला या गार बनानेवाले जीवों में भी वह है। किसी में कम, किसी में ज्यादा। मकड़ी, चिड़ियाँ, लोमड़ी और चींटी इत्यादि छोटे-छोटे जीव तक अपने-अपने काम से ज्ञान रखने का प्रमाण देते हैं, और ज्ञान मन का व्यापार है। मन से ज्ञान का बहुत बड़ा सम्बन्ध है। तो फिर यह कैसे कह सकते हैं कि जानवरों में मानसिक विचार की शक्ति नहीं है?

जो कुछ हम सोचते या करते हैं, वह इंद्रियों पर उठे हुए चित्र का कारण नहीं है। उसका कारण ज्ञान है। एक किताब या कुर्सी की तसवीर मक्खी की इन्द्रियों पर भी वैसी ही खिंचेगी, जैसी पालने पर पड़े हुए छोटे बालक की इन्द्रियों पर। पर जिसमें जितना ज्ञान होता है जिसमें जितना बुद्धि होती है उसी के अनुसार सांसारिक पदार्थों या शक्तियों या [illegible] मूर्तियों का महत्त्व न्यूनाधिक भाव में सब कहीं [illegible]

भरा पड़ा है, जिधर देखो उधर कर्तव्य ही कर्तव्य देख पड़ते हैं। बस इसी कर्तव्य का पूरा-पूरा पालन करना हम लोगों का धर्म है, और इसी से हम लोगों के चरित्र की शोभा बढ़ती है। कर्तव्य का करना न्याय पर निर्भर है और यह न्याय ऐसा है जिसे समझने पर हम लोग प्रेम के साथ उसे कर सकते हैं।

हम सब लोगों के मन में एक ऐसी शक्ति है जो हम सभी को बुरे कामों के करने से रोकती और अच्छे कामों की ओर हमारी प्रवृत्ति को झुकाती है। यह बहुधा देखा गया है कि जब कोई मनुष्य खोटा काम करता है तब बिना किसी के कहे आप ही लजाता और अपने मन में दुःखी होता है। लड़को! तुमने बहुधा देखा होगा कि जब कभी कोई लड़का किसी मिठाई को चुराकर खा लेता है तब वह मन में डरा करता है और पीछे से आप ही पछताता है कि मैं ने ऐसा काम क्यों किया, मुझे अपनी माता से कह कर खाना था। इसी प्रकार का एक दूसरा लड़का, जो कभी कुछ चुरा कर नहीं खाता, सदा प्रसन्न रहता है और उसके मन में कभी किसी प्रकार का डर और पछतावा नहीं होता। इसका क्या कारण है? यही कि हम लोगों का यह कर्तव्य है कि हम कभी चोरी न करें। परन्तु जब हम चोरी कर बैठते हैं तब हमारी आत्मा हमें कोसने लगती है। इसलिए हमारा यह धर्म है कि हमारी आत्मा हमें जो कहे, उसके अनुसार हम करें। दृढ़ विश्वास रखो कि जब तुम्हारा मन किसी काम के करने से हिचकिचाये और दूर भागे तब कभी तुम उस काम को न करो। तुम्हें अपना धर्म-पालन करने में बहुधा कष्ट उठाना पड़ेगा, पर इससे तुम साहस न छोड़ो। क्या हुआ जो तुम्हारे पड़ौसी ठगविद्या और असत्यपरता* से धनाढ्य हो गये और तुम कंगाल ही रह गये। क्या हुआ जो दूसरे लोगों ने झूठी चाटुकारी* करके बड़ी-बड़ी नौकरियाँ पा लीं और तुम्हें

जितने कर्म उन्होंने किये उन सभों में अपने कर्तव्य पर ध्यान दे कर न्याय का वर्ताव किया। जिन जातियों में यह गुण पाया जाता है वे ही संसार में उन्नति करती हैं और संसार में उनका नाम आदर के साथ लिया जाता है। एक समय किसी अंग्रेजी जहाज में, जब वह बीच समुद्र में था, एक छेद हो गया। उस पर बहुत-सी स्त्रियाँ और पुरुष थे। उसके बचाने का पूरा-पूरा उद्योग किया गया, पर जब कोई उपाय सफल न हुआ तब जितनी स्त्रियाँ उस पर थीं सब नावों पर चढ़ा कर विदा कर दी गईं, और जितने मनुष्य उस पोत पर बच गये थे, उन्होंने उसकी छत पर इकट्ठे होकर ईश्वर को धन्यवाद दिया कि वे अब तक अपना कर्तव्य पालन कर सके और स्त्रियों की प्राण-रक्षा में सहायक हो सके। निदान इसी प्रकार ईश्वर की प्रार्थना करते-करते उस पोत में पानी भर आया और वह डूब गया, पर वे लोग अपने स्थान पर ज्यों-के-त्यों खड़े रहे, उन्होंने अपने प्राण बचाने का कोई उद्योग नहीं किया। इसका कारण यह था कि यदि वे अपने प्राण बचाने का उद्योग करते तो स्त्रियाँ और बच्चे न बच सकते। इसी लिए उस पोत के लोगों ने अपना धर्म यही समझा कि अपने प्राण देकर स्त्रियों और बच्चों के प्राण बचाने चाहिएँ। इस के विरुद्ध फ्रांस देश के रहने वालों ने एक डूबते हुए जहाज पर से अपने प्राण तो बचाये किंतु उस पोत पर जितनी स्त्रियाँ और बच्चे थे उन सभों को उसी पर छोड़ दिया। इस नीच कर्म की सारे संसार में निंदा हुई। इसी प्रकार जो लोग स्वार्थी होकर अपने कर्तव्य पर ध्यान नहीं देते, वे संसार में लज्जित होते हैं और सब लोग उनसे घृणा करते हैं।

कर्तव्य-पालन से और सत्यता से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो मनुष्य अपना कर्तव्य-पालन करता है वह अपने कामों और

में ही अपना परम गौरव मानते हैं। ऐसे लोग ही समाज को नष्ट करके दुःख और संताप के फैलाने के मुख्य कारण होते हैं। इस प्रकार का झूठ बोलना स्पष्ट न बोलने से अधिक निंदित और कुत्सित कर्म है।

झूठ बोलना और भी कई रूपों में देख पड़ता है। जैसे चुप रहना, किसी बात को बढ़ाकर कहना, किसी बात को छिपाना, भेस बदलना, झूठ-मूठ कहना, दूसरों के साथ हाँ में हाँ मिलाना, प्रतिज्ञा करके उसे पूरा न करना और सत्य न बोलना इत्यादि। जबकि ऐसा करना धर्म के विरुद्ध है, तब यह सब बातें झूठ बोलने से किसी प्रकार कम नहीं हैं। फिर ऐसे लोग भी होते हैं जो मुँह-देखी बातें बनाया करते हैं, परन्तु करते वही काम हैं, जो उन्हें रुचता है। ऐसे लोग मन में समझते हैं कि कैसा सब को मूर्ख बना कर हमने अपना काम कर लिया, पर वास्तव में वे अपने को ही मूर्ख बनाते हैं और अंत में उनकी पोल खुल जाने पर समाज में सब लोग घृणा करते और उनसे बात करना अपना अपमान समझते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने मन में किसी गुण के न रहने पर भी गुणवान बनना चाहते हैं। जैसे यदि कोई पुरुष कविता करना न जानता हो, पर वह अपना ढंग ऐसा बनाये रहे जिससे लोग समझें कि यह कविता करना जानता है, तो यह कविता का आडंबर रखने वाला मनुष्य झूठा है, और फिर वह अपने भेस का निर्वाह पूरी रीति से न कर सकने पर दुःख सहता है और अंत में भेद खुल जाने पर सब लोगों की आँखों में झूठा और नीच गिना जाता है। परन्तु जो मनुष्य सत्य बोलता है वह आडंबर से दूर भागता है और उसे दिखावा नहीं रुचता। उसे तो इसी में बड़ा संताप और आनंद होता है कि सत्यता के साथ वह अपना [illegible] कर सकता है।

आकाश का दृश्य हमारे लिए नितांत भिन्न होता। आकाश में एक भी आकाश-गंगा न दिखाई देती। जो नक्षत्र जिस प्रकार आज हम देखते हैं, वे तो शायद कहीं देख न पड़ते या असंख्य नीहारिकाओं के नीहार में छिप जाते। साथ ही अनेक नये जाज्वल्यमान नक्षत्र और तारे नये-नये स्थानों में दिखाई पड़ते। इनमें हमें अपने सूर्य-चन्द्रमा भी ढूँढे न मिलते।

ऐसी अद्भुत अनंतता, विचित्र अनादिता और विस्मयकारी अमर्यादा जिस विराट् पुरुष के अन्दर है, उसके "पादोऽस्य विश्वा भूतानि"*—एक चौथाई में ही सारे विश्वों की सृष्टि है!!!

हमारी आकाश-गंगा भी ऐसी ही एक नीहारिका है, जिसमें हमारे जैसे असंख्य ब्रह्मांड हैं। अनेक बन चुके हैं, अनेक बन रहे हैं; अनेक भविष्य के गर्भ में निहित हैं। हमारे ब्रह्मांड में भी अनेक ग्रह हैं जो हमारी पृथ्वी-सरीखे बड़े-बड़े पिंड हैं। कई संसार-रचना की तैयारी में हैं, कई के संसार संसरण* कर रहे हैं, कई के संसार अपनी पूर्णायु भोगकर अपनी यात्रा की सीमा की ओर चल रहे हैं और कई उसी सीमा पर पहुँचकर यात्रा पूरी कर चुके हैं। हमारी धरती ने अभी अपना जीवन आरंभ किया है। अनेक वैज्ञानिकों के मत से इसके जीवनमय जीवन को कुछ ऊपर दो करोड़ बरस हुए होंगे। हिंदुओं का भी ऐसा ही मत है। वे कहते हैं कि श्वेत वाराह कल्प का यह अट्ठाईसवाँ कलियुग है, जिसके केवल पाँच हजार इकतीस बरस बीते हैं। इस हिसाब से भी दो करोड़ से कुछ ऊपर बरस बीत चुके हैं।

हमारी गणना केवल यहीं नहीं मेल खाती; सभी जगह हमारी पौराणिक संख्याएँ वैज्ञानिक संख्याओं से मेल खाती हैं। इतना ही नहीं, विश्व की सृष्टि के सिद्धांत भी मिलते हैं। कथाओं पर विचार करने से अद्भुत मेल मिलता है। क्षीर-सागर,

शेष-शय्या, महालक्ष्मी-नारायण का शयन, कमल का उद्भव
ब्रह्मा की उत्पत्ति, मधुकैटभ का युद्ध, मेदिनी-निर्माण, मंगल की
उत्पत्ति इत्यादि कथाओं का एक बहुत ही विचित्र समन्वय*
होता है।

मजदूरी और प्रेम

(श्री प्रो० पूर्णसिंह एम. एस-सी.)

हल चलाने और भेड़ चरानेवाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलानेवाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला* है। उनके हवनकुंड की ज्वाला की किरणें चावल के लंबे और सफ़ेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की टलियाँ-सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग़ के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण ज़मीन में गिरकर उगे हैं, और हवा तथा प्रकाश की सहायता से वे मीठे फलों के रूप में नज़र आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में, आहुति हुआ-सा दिखाई देता है। कहते हैं ब्रह्माहुति से जगत् पैदा हुआ। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है।

दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है
अन्यत्र मिलने का नहीं। गुरु नानक के
भाव 'मूले

को उसने अवश्य देखा है। फूले अंग नहीं समाता; रग-रग उसकी नाच रही है। पिता को ऐसा सुखी देख दोनों कन्याओं ने एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर पहाड़ी राग अलापना आरंभ कर दिया। साथ ही धम-धम थम-थम नाच कर उन्होंने धूम मचा दी। मेरी आँखों के सामने ब्रह्मानंद का समाँ बाँध दिया। मेरे पास मेरा भाई खड़ा था। मैंने उसे कहा—"भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।" ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जावें तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित् इस वनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जायँ और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूँ। चंद्र और सूर्य की विस्तृत ज्योति में जो वेदगान* हो रहा है उसे इस गडरिये की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूँ, परन्तु कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं ऋषियों ने भी, इनको देखा ही था, सुना न था। पण्डितों की उटपटांग बातों से मेरा जी उकता गया है। प्रकृति की मंद-मंद हँसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओंठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान में गंभीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों के जीवन में अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गडरिये के परिवार को प्रेम-मजदूरी का मूल्य कौन दे सकता है?

आपने चार आने पैसे मजदूर के हाथ में रखकर कहा—"यह लो दिन भर की अपनी मजदूरी।" वाह, क्या दिल्लगी है! हाथ, पाँव, सिर, आँखें इत्यादि सब-के-सब अवयव* उसने आपको अर्पण कर दिये। ये सब चीजें उसकी तो थीं ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिये वे भी आप के न थे। वे तो पृथ्वी से निकाले हुए धातु के टुकड़े थे; अतएव ईश्वर के निर्मित थे। मजदूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम-सेवा से चुकता होता है, अन्न-धन देने से नहीं। वे तो

धर्म और कलाकौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते! पद्मासन* निकम्मे हो चुके। वे ही आसन ईश्वर-प्राप्ति करा सकते हैं जिनसे जोतने, बोने, काटने और मजदूरी का काम लिया जाता है। लकड़ी, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान करनेवाले लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष हैं जैसे कि कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम-से-उत्तम और नीच-से-नीच काम, सब-के-सब प्रेम-शरीर के अंग हैं।

निकम्मे रहकर मनुष्यों की चिंतन-शक्ति थक गई है। बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे मन के घोड़े हार गये हैं। सारा जीवन निचुड़ चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं। आज-कल की कविता में नयापन नहीं। उसमें पुराने जमाने की कविता की पुनरावृत्ति मात्र है। इस नकल में असल की पवित्रता और कुँवारेपन का अभाव है। अब तो एक नये प्रकार का कला-कौशल-पूर्ण संगीत साहित्य-संसार में प्रचलित होने वाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ तो मशीनों के पहियों के नीचे दबकर हमें मरा समझिए। यह नया साहित्य मजदूरों के हृदय से निकलेगा। उन मजदूरों के कंठ से वह नई कविता निकलेगी जो आनंद के साथ खेत की मेड़ों का, कपड़े के तागों का, जूते के टाँकों का, लकड़ी के रंगों का, पत्थर की नसों का भेदभाव दूर करेंगे। हाथ में कुल्हाड़ी, सिर पर टोकरी, नंगे सिर और नंगे पाँव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रँगे हुए ये बे-जबान* कवि जब जंगल में लकड़ी काटेंगे तब लकड़ी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वरों से मिश्रित होकर वायु-यान पर चढ़ दशों दिशाओं में ऐसा अद्भुत गान करेगा कि भविष्य के कलावंतों के लिए यही ध्रुपद और मलार का काम देगा। चरखा कातनेवाली स्त्रियों के गीत संसार के कौमी गीत होंगे।

...ों की मजदूरी ही यथार्थ पूजा होगी। कलारूपी धर्म की

की हलवा-पूरी उन्होंने एक हाथ में और भाई लालो की मोटी रोटी दूसरे हाथ में लेकर दोनों को जो दबाया तो एक से लोहू टपका और दूसरी से दूध की धारा निकली। बाबा नानक का यही उपदेश हुआ! जो धारा भाई लालो की मोटी रोटी से निकली थी वही समाज का पालन करने वाली दूध की धारा है। यही धारा शिवजी की जटा से और यही धारा मजदूरों की उँगलियों से निकलती है।

मजदूरी करने से हृदय पवित्र होता है; संकल्प दिव्य लोकांतर में विचरते हैं। हाथ की मजदूरी ही से सच्चे ऐश्वर्य की उन्नति होती है। जापान में मैंने कन्याओं और स्त्रियों को ऐसी कलावती* देखा है कि वे रेशम के छोटे-छोटे टुकड़ों को अपनी दस्तकारी की बदौलत हजारों की कीमत का बना देती हैं, नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों और दृश्यों को अपनी सूई से कपड़े के ऊपर अंकित कर देती हैं। जापान-निवासी कागज, लकड़ी और पत्थर की बड़ी अच्छी मूर्त्तियाँ बनाते हैं। करोड़ों रुपये के हाथ के बने हुए जापानी खिलौने विदेशों में बिकते हैं; हाथ की बनी हुई जापानी चीजें मशीन से बनी हुई जापानी चीजों को मात करती हैं। संसार के सब बाजारों में उनकी बड़ी माँग रहती है। पश्चिमी देशों के लोग हाथ की बनी हुई जापान की अद्भुत वस्तुओं पर जान देते हैं। एक जापानी तत्त्वज्ञानी* का कथन है कि हमारी दस करोड़ उँगलियाँ सारे काम करती हैं। इन उँगलियों ही के बल से, संभव है, हम जगत् को जीत लें ("We shall beat the world with the tips of our fingers")। जब तक धन और ऐश्वर्य की जन्मदात्री हाथ की कारीगरी की उन्नति नहीं होती तब तक भारतवर्ष ही की क्या, किसी भी देश या जाति की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। यदि भारत की तीस करोड़ नर-नारियों की उँगलियाँ मिलकर कारीगरी के काम

अर्थात् वहाँ वालों के हाथ की अद्वितीय कारीगरी प्रकट करने वाली मूर्त्तियाँ तोड़ने का साहस कर सकता। वहाँ की मूर्त्तियाँ तो बोल रही हैं—वे जीती-जागती हैं, मुर्दा नहीं। इस समय के देवस्थानों* में स्थापित मूर्त्तियाँ देखकर अपने देश की आध्यात्मिक दुर्दशा पर लज्जा आती है। उनसे तो यदि अनगढ़ पत्थर रख दिये जाते तो अधिक शोभा पाते। जब हमारे यहाँ के मजदूर, चित्रकार तथा लकड़ी और पत्थर पर काम करने वाले भूखों मरते हैं तब हमारे मंदिरों की मूर्त्तियाँ कैसे सुन्दर हो सकती हैं? ऐसे कारीगर तो यहाँ शूद्र के नाम से पुकारे जाते हैं! याद रखिए, बिना शूद्र-पूजा के मूर्त्ति-पूजा किम्वा कृष्ण और शालिग्राम की पूजा होना असम्भव है।

समाज का पालन करने वाली दूध की धारा जब मनुष्य के प्रेममय हृदय, निष्कपट मन और मित्रतापूर्ण नेत्रों से निकलकर बहती है तब वही जगत् में सुख के खेतों को हरा भरा और प्रफुल्लित करती है और वही उनमें फल भी लगाती है। आओ यदि हो सके तो टोकरी उठाकर कुदाली हाथ में लें। मिट्टी को खोदें और अपने हाथ से उसके प्याले बनावें। फिर एक-एक प्याला घर-घर में, कुटिया-कुटिया में रख आवें और सब लोग उसी में मजदूरी का प्रेमामृत पान करें।

राजाओं की नीयत में बरकत

[illegible]

[illegible]

के आराम और रैयत की भलाई में लगी रहे तो नेकियों का जाहिर होना, खेतियों तथा बागों की पैदावारों का बढ़ जाना मुश्किल नहीं है। खुदा का शुक्र है कि इस सलतनत* (हिंदुस्तान) में पेड़ों के हासिल लेने की लाग कभी नहीं थी और न अब है। अमलदारी के सारे मुल्कों में एक दाम और एक कौड़ी भी इस सीरो (खाते) की दीवान-आला और खजाने आमरे में दाखिल नहीं होती है, बल्कि हुक्म है कि जो कोई खेती की जमीन में बाग लगावे तो उसका हासिल माफ रहे। उम्मेद है कि सच्चा खुदा इस न्याजमंद (दीन-हीन) को हमेशा नेकनीयती की श्रद्धा दे।

"जब मेरी नीयत भलाई की है तो तू मुझे भलाई दे॥"

फारसी भाषा के एक कवि ने बादशाहों की नेकनीयती का बखान करते हुए कहा है—

'चू नीयत नेक बाशद बादशा रा।
बजाए गुल 'गुहर रेजद गिया रा॥

'अर्थात् जो बादशाह की नीयत नेक हो तो फूल की जगह घास में मोती लगे।"

राम और भरत

(श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल)

अनंत शक्ति के साथ धीरता, गंभीरता और कोमलता 'राम' का प्रधान लक्षण है। यही उनका 'रामत्व' है। अपनी शक्ति की स्वानुभूति* ही उस उत्साह का मूल है जिससे बड़े-बड़े दु साध्य कर्म होते हैं। बाल्यावस्था में ही जिस प्रसन्नता के साथ दोनों भाइयों ने घर छोड़ा और विश्वामित्र के साथ बाहर

* 'तुजुक जहाँगीरी,' जिल्द २, पृष्ठ २१३-२४।

के आराम और रैयत की भलाई में लगी रहे तो नेकियों का जाहिर होना, खेतियों तथा बागों की पैदावारों का बढ़ जाना मुश्किल नहीं है। खुदा का शुक्र है कि इस सलतनत* (हिंदुस्तान) में पेड़ों के हासिल लेने की लाग कभी नहीं थी और न अब है। अमलदारी के सारे मुल्कों में एक दाम और एक कौड़ी भी इस सीरो (खाते) की दीवान-आला और खजाने आमरे में दाखिल नहीं होती है, बल्कि हुक्म है कि जो कोई खेती की जमीन में बाग लगावे तो उसका हासिल माफ रहे। उम्मैद है कि सच्चा खुदा इस न्याजमंद (दीन-हीन) को हमेशा नेकनीयती की श्रद्धा दे।

"जब मेरी नीयत भलाई की है तो तू मुझे भलाई दे॥"

फारसी भाषा के एक कवि ने बादशाहों की नेकनीयती का बखान करते हुए कहा है—

'चू नीयत नेक बाशद बादशा रा।
बजाए गुल गुहर खेजद गिया रा॥

'अर्थात् जो बादशाह की नीयत नेक हो तो फूल की जगह घास में मोती लगे।"

राम और भरत

(श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल)

अनंत शक्ति के साथ धीरता, गंभीरता और कोमलता 'राम' का प्रधान लक्षण है। यही उनका 'रामत्व' है। अपनी शक्ति की स्वानुभूति* ही उस उत्साह का मूल है जिससे बड़े-बड़े दुःसाध्य कर्म होते हैं। बाल्यावस्था में ही जिस प्रसन्नता के साथ दोनों भाइयों ने घर छोड़ा और विश्वामित्र के साथ बाहर

१ 'तुजुक जहाँगीरी,' जिल्द २, पृष्ठ २५३-५४।

जिमि करि-निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥
तैसेहि भरतहिं सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता॥

पर राम के मन में भरत के प्रति ऐसा संदेह होना ही नहीं है। अपनी सुशीलता के बल से उन्हें उनकी सुशीलता पर पूरा विश्वास है। वे तुरन्त समझाते हैं—

सुनहु लखन! भल भरतसरीसा। बिधि-प्रपंच महँ सुना न दीसा॥
भरतहि होइ न राज-मद बिधि हरि-हर-पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी-सीकरनि छीर-सिंधु बिनसाइ॥

सुमंत* जब राम-लक्ष्मण को विदा कर अयोध्या लौटने लगते हैं, तब रामचन्द्र जी अत्यन्त प्रेम-भरा सन्देश पिता से कहने को कहते हैं जिसमें कहीं भी खिन्नता या उदासीनता का लेश नहीं है। वे सारथी को बहुत तरह से समझाकर कहते हैं—

सब बिधि सोइ करतब्य तुम्हारे। दुख न पाव पितु सोच हमारे॥

यह कहना लक्ष्मण को अच्छा नहीं लगता। जिस निष्ठुर पिता ने स्त्री के कहने में आकर वनवास दिया, उसे भला सोच क्या होगी? पिता के व्यवहार की कठोरता के सामने लक्ष्मण का ध्यान उनके सत्य-पालन और परवशता की ओर न गया। उनकी वृत्ति इतनी धीर और संयत* न थी कि वे इतनी दूर तक सोचने जाते। पिता के प्रति कुछ कठोर वचन वे कहने लगे। पर राम ने उन्हें रोका और सारथी से बहुत विनती की कि लक्ष्मण की ये बातें पिता से न कहना।

पुनि कछु लखन कही कटु बानी। प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी॥
सकुचि राम निज सपथ दिवाई। लखन-संदेसु कहिय जनि जाई॥

यह 'सकुचि' शब्द कितना भाव-गर्भित है। यह कवि की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि सूचित करता है। मनुष्य का जीवन सामाजिक है। वह समाजबद्ध प्राणी है। उसे अपने ही आचरण पर लज्जा या संकोच नहीं होता अपने कुटुम्बी, इष्ट मित्र या साथी के

जिसके बाण खींचते ही 'उठी उदधि* उर-अंतर ज्वाला'। उसने पहले तीन दिनों तक हर एक प्रकार से विनय की। विनय की मर्यादा पूरी होते ही राम ने अपना अतुल पराक्रम प्रकट किया जिसे देख लक्ष्मण को संतोष हुआ। विनय वाली नीति उन्हें पसंद न थी। एक बार, दो बार कह देना ही काफी समझते थे।

वाल्मीकि ने राम के वनवास की आज्ञा पर लक्ष्मण के महाक्रोध का वर्णन किया है। पर न जाने क्यों यहां तुलसीदास जी इसे बचा गये हैं।

चित्रकूट में अपनी कुटिलता का अनुभव करती हुई कैकेयी से राम बार-बार इसलिए मिलते हैं कि उसे यह निश्चय हो जाय कि उनके मन में उस कुटिलता का ध्यान कुछ भी नहीं है और उसकी ग्लानि दूर हो। वे बार-बार उसके मन में यह बात जमाना चाहते हैं कि जो कुछ हुआ, उसमें उसका कुछ भी दोष नहीं है। अपने साथ बुराई करने वाले के हृदय को शांत और शीतल करने की चिंता राम के सिवा और किसको हो सकती है? दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि राम का यह शील-प्रदर्शन उस समय हुआ जिस समय कैकेयी का अंतःकरण अपनी कुटिलता का पूर्ण अनुभव करने के कारण इतना द्रवीभूत* हो गया था कि शील का संस्कार उस पर सब दिन के लिए जम सकता था। गोस्वामी जी के अनुसार हुआ भी ऐसा ही—

कैकेयी जौ लौं जियति रही।
तौ लौं बात मातु सों मुँह भरी भरत न भूलि कही।
मानी राम अधिक जननी तें जननिहु गैस न गही॥

इतने पर भी कहीं गाँस* रह सकती है?

गार्हस्थ्य जीवन के दाम्पत्य भाग के भीतर सबसे मनोहर

कैसी ? यह ग्लानि अपने संबंध में लोक की बुरी धारणा के अनुमान-मात्र से उन्हें हुई थी। लोग प्रायः कहा करते हैं कि अपना मन शुद्ध है, तो संसार के कहने से क्या होता है ? यह बात केवल साधना की ऐकांतिक दृष्टि से ठीक है, लोक-संग्रह की दृष्टि से नहीं। आत्म-पक्ष और लोक-पक्ष दोनों का समन्वय राम-चरित का लक्ष्य है। हमें अपनी अंतर्वृत्ति भी शुद्ध और सात्विक रखनी चाहिए और अपने संबंध में लोक की धारणा अच्छी बनानी चाहिए। जिसका प्रभाव लोक पर न पड़े, उसे मनुष्यत्व का पूर्ण विकास नहीं कह सकते। यदि हम वस्तुतः सात्विक-शील हैं, पर लोग भ्रमवश या और किसी कारण हमें बुरा समझ रहे हैं, तो हमारी सात्विक-शीलता* समाज के किसी उपयोग की नहीं। हम अपनी सात्विक-शीलता अपने साथ लिये चाहे स्वर्ग का सुख भोगने चले जायँ, पर अपने पीछे दस-पाँच आदमियों के बीच दस-पाँच दिन के लिए भी कोई शुभ प्रभाव न छोड़ जायँगे। ऐसे ऐकांतिक जीवन का चित्रण, जिसमें प्रभविष्णुता* न हो, रामायण का लक्ष्य नहीं है। रामायण भरत ऐसे पुण्यश्लोक को सामने करता है जिनके संबंध में राम कहते हैं—

मिटहिं पाप-प्रपंच सब, अखिल-अमंगल-भार।
लोक-सुजस, परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार॥

जिन भरत को अयश की इतनी ग्लानि हुई, जिनके हृदय में धर्म-भाव कभी न हटा, उनके नाम के स्मरण से लोक में यश [illegible] में सुख दोनों क्यों न प्राप्त हों ?

भरत के हृदय का विश्लेषण* करने पर हम उसमें लोक-[illegible]स्नेहार्द्रता,* भक्ति और धर्म-प्रवणता का मेल पाते हैं। राम के आश्रम पर जाकर उन्हें देखते ही भक्ति-वश 'पाहि ! पाहि !' कहते हुए वे पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। राम के बीच [illegible]

पूर्ण रूप से फलवती हुई। भरत केवल लोक की दृष्टि में पवित्र ही न हुए, लोक को पवित्र करने वाले भी हुए। राम ने उन्हें धर्म का साक्षात् स्वरूप स्थिर किया और स्पष्ट कह दिया कि—

भरत ! भूमि रह राउरि राखी।

बुढ़िया और नौशेरवाँ

(श्री पं० पद्मसिंह शर्मा)

बहुत से लोगों का ख्याल है कि प्रजा-तन्त्र शासन प्रणाली* की जननी नवीन सभ्यता ही है: राज-शासन में प्रजा के मतामत को जानकर कार्य करना, योरुप के लोगों ने ही संसार को सिखाया है। एशिया के पुराने शासकगण स्वेच्छाचार-परायण और निरे उद्दण्ड होते थे। उनकी शख्सी हुकूमत* में किसी को चूँ करने, या दम मारने की मजाल न थी। प्रजा का जान-मा और उनकी जिन्दगी-मौत खुदमुख्तार* राजा और बादशाहों की एक 'हां' या 'नहीं' पर मौकूफ* थी। जरा-सी नाराजगी र हुक्म-उदूली* पर क़त्ले-आम और 'विजन'* बोल दिया जाता था जरा-जरा-सी बात पर आन-की-आन में गाँव-के-गाँव शासक की क्रोधाग्नि में फुँककर भस्म हो जाते थे। उनके मुँह से बुरा-भला निकल गया, वह ईश्वरेच्छा की तरह अमिट था फिर चाहे जो भी हो, पर उनका हुक्म जरूर पूरा हो। उन उद्दण्डाज्ञा के आगे हुत्कार निकालना "जो हुक्म हजूर" के सि कुछ और ननु-नच करना, वक्त से पहले मौत को बुलाना थ राजा और ईश्वर का एक दर्जा था—जिस तरह वह बड़ा 'ईश अपना कोई काम किसी से पूछकर नहीं करता, वह जो भी रहम या कहर* अपने बंदों पर नाजिल* करे उसे शुक्र

नहीं होगा। किन्तु भेड़ियों और हाथियों जैसे पशुओं द्वारा पालित-पोषित मानव-बालक सचमुच पकड़े गये हैं। इस लिए इसमें सन्देह की कोई गुंजायश नहीं। मैं जनवरी सन् १९४१ में कलकत्ता गया था। वहाँ श्री बालकृष्णदास मेहरा नाम के एक सज्जन मुझे मिले थे। उन्होंने सुनाया कि सन् १९०२ की बात है। उन दिनों गौहाटी-आसाम रेलवे बन रही थी। रेलवेवालों ने हाथियों से बचने के लिए काँटेदार तार का एक जँगला बना रखा था। इसलिए हाथी रेल के काँटे वाले के शत्रु बन गये। उन्होंने एक दिन आक्रमण* करके उसकी और उसकी स्त्री की हत्या कर डाली। पर उनकी छोटी लड़की को वे उठाकर ले गये। जिस समय श्री बालकृष्ण ने उस लड़की को देखा उस समय वह कोई पन्द्रह-सोलह वर्ष की थी, बिलकुल नंगी थी, हाथ-पैर के बल चलती थी, बोल भी न सकती थी। एक हथिनी उसे पीठ पर उठाये फिरती थी। एक दिन हाथियों का समूह लड़की को लिये फिर रहा था। उसके सामने गन्ने और फल डलवाये गये। पर उन्होंने कुछ न खाया। तब वह लड़की हथिनी की पीठ पर से उतर कर नीचे आई। उसने गन्नों और फलों को सूँघा, फिर हथिनी की सूँड़ को हिलाया, कुछ चिल्लाई, और फिर फल खा गई। उसने रोटी नहीं खाई, मिठाई को नहीं छुआ। लड़की के फल खाने के बाद हाथियों ने भी गन्ने और फल खाना आरम्भ कर दिया। धीरे धीरे वह लड़की हिल गई। वह हाथियों के साथ प्रतिदिन आती। हाथी बाहर खड़े पहरा देते। हाथियों को जो फल-फूल दिये जाते उन को वे तब तक न खाते जब तक लड़की सूँघ कर उनको न देती। लड़की को लोगों ने "रोटी", "आलू" बोलना सिखा दिया। अँगरेज अफसरों की स्त्रियाँ भी उस से प्यार करती थीं। वह हाथियों की बोली समझती थी। वह वृक्षों पर बन्दर की भाँति

के पिल्ले जाते देखे । लड़का पकड़ लिया गया । बचपन में लड़के के घुटने पर चोट लग गई थी । वहाँ एक दाग पड़ गया था । उस दाग को देख कर लड़के की माँ ने पहचान लिया कि यह मेरा ही वह पुत्र है जिसे छः वर्ष हुए भेड़िया उठाकर ले गया था जब कि मैं और इसका पिता खेत में गेहूँ काट रहे थे। कर्नल स्लीमन की चौथी घटना एक ऐसे लड़के की है जो एक बड़े भेड़िये के साथ-साथ दुलकी चलता हुआ पकड़ा गया था। इसे बाद को अवध लोकल इन्फैण्टरी के कर्नल मे, उनकी धर्मपत्नी और रेजिमेण्ट के दूसरे अफसरों ने देखा था। जिस अन्तिम घटना का कर्नल स्लीमन को ज्ञान है उसका आधार थाँकीपुर के एक जमींदार जुलफुकार खाँ का लड़का है। जिस समय लड़के को भेड़िया उठा कर ले गया उस समय उसकी अवस्था छः वर्ष की थी। उसे उसके ले-पालक* माता-पिता भेड़ियों से चार वर्ष बाद वापस लिया गया था।

सन् १८७२ में वॉल को आप एक भेड़िये द्वारा पाले हुए लड़के को देखने का अवसर मिला था। सकन्दरा मिरान अनाथालय की रिपोर्ट का एक उद्धरण* पढ़ कर उसका ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ था। यह उद्धरण उस समय भारत के पत्रों में खूब छप रहा था। यह उद्धरण नीचे दिया जाता है—

"एक दस वर्ष के लड़के को भेड़िये की माँद के बाहर आग जला कर भेड़ियों सहित बाहर निकाला गया। यह कहना संभव नहीं कि वह कब से भेड़ियों के साथ था, पर उसके हाथ पैर के बल पशुओं की तरह चलने और कच्चा मांस खाने के स्वभाव से जान पड़ता है कि वह अवश्य दीर्घ काल से उनके साथ रहता होगा। अभी तक भी वह बहुत अधिक जंगली जन्तु के ही सदृश है उसके घेघे शब्द से कुत्ते

था, नितान्त जड़-बुद्धि था, और जितना कोई मनुष्य अधिक-से-अधिक पशु हो सकता है उतना पशु वह था। उसे निरामिष भोजन खाने को दिया गया। पर उसने खाने से इनकार कर दिया। जब उसके सामने मांस रखा तो वह झट खा गया। मजिस्ट्रेट ने जब देखा कि लड़के को बुद्धिमान् और उपयोगी बनाना संभव नहीं तो उसने इसे अनाथालय में भेज दिया और उसे वहाँ रखने की प्रार्थना की।"

जिस समय सर जीवनजी ने लड़के को देखा उस समय वह बढ़ कर पूरा जवान मनुष्य बन चुका था। वह बोल नहीं सकता था, पर संकेत समझता था। जब पहले-पहल उसे मिशन में लाया गया तब वह हाथ-पांवों के बल चलता था, पर अब सीधा खड़ा होकर चलने लगा था। पहले जो वह कच्चे मांस के लिए लालायित रहता था उसकी अब वह लालसा भी दब चुकी थी। अब चेरुट पीने लगा था और चेरुट खरीदने के लिए संकेतों द्वारा पैसे माँगा करता था।

सन् १६३७ में एक भारतीय पत्रिका में बिशप एच० पाकर हय वाल्श का लिखा एक वृत्तान्त प्रकाशित हुआ था। उसमें उस ने मिदनापुर के एस० पी० जी० मिशन के अधिष्ठाता, रेवरेण्ड जे० ए० एल० सिंह द्वारा एक मादा भेड़िये की माँद में दो लड़कियों के प्राप्त किये जाने की बात कही थी। पर घटना सन १६२० में हुई थी। इससे भेड़ियों द्वारा पाले गए मनुष्य के बच्चों की घटनाओं में एक और की वृद्धि हो जाती है।

पशु-पक्षियों द्वारा पालित मनुष्य-शिशुओं की कहानियाँ पहले जिन्न-भूतों की कहानियों की तरह केवल कपोलकल्पित* ही समझी जाती थीं। लोग उनके सत्य होने पर विश्वास नहीं करते थे। ऐसी आश्चर्यजनक बातों पर सहसा विश्वास होना है भी कठिन। पर उपर्युक्त घटनाओं पर अविश्वास नहीं किया

समाज उसी व्यक्ति की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो सकता है, जो 'समाज-हित में' अपने हित को शामिल करने के लिए उद्यत हो। जो समष्टिवाद व्यक्ति के अस्तित्व का नाश करके समाज को बनाना चाहता है, वह कभी सफल नहीं हो सकता। रूस में समष्टिवाद की जितनी सफलता प्रतीत होती है, उसका कारण यही है कि लेनिन के समष्टिवाद ने परिश्रम करने वाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व को पहले की अपेक्षा कहीं अधिक स्वाधीन और उन्नत बना दिया है। जो शासन या व्यापार का संगठन व्यक्तियों की शक्तियों को कुचल देता है वह बालू पर बनी भीत की भांति शीघ्र ही बैठ जाता है। वस्तुतः व्यक्ति और समाज मिलकर, एक-दूसरे के सहायक बनकर ही उन्नति कर सकते हैं, परस्पर विरोधी बनकर नहीं।

यदि सब कुछ उसी तरह चले, जैसे चलना चाहिए, तो संसार में सब स्वाधीन-ही-स्वाधीन दिखाई दें, क्योंकि हम देख चुके हैं कि स्वाधीनता सभी को प्यारी है। परन्तु जब मनुष्य एक-दूसरे के सम्बन्ध में आते हैं—अर्थात् व्यक्ति समाज में प्रवेश करता है, तो एक की जगह उसकी दो विशेषताएँ उद्भूत हो जाती हैं। वह अपनी अलग हस्ती रखना चाहता है, परन्तु साथ ही समाज की ओर खिंचता भी है। उसे हम असामाजिक सामाजिकता या सामाजिक असामाजिकता कह सकते हैं। मनुष्य सुखी होना चाहते हैं, परन्तु औरों की अपेक्षा से। व्यक्ति बड़ा बनना चाहता है, परन्तु दूसरों की ऊँचाई नाप कर। वह समाज में रहकर ही समाज के ढंग पर और समाज की दृष्टि में ऊँचा और सुखी होना चाहता है। वह समाज में रहता है, समाज से जुदा हस्ती रखना चाहता है। यहीं आकर स्वाधीनता में बाधाएँ पड़ती हैं। व्यक्ति और समाज की आपस की क्रिया-प्रतिक्रिया* से मनुष्य-समाज का इतिहास बनता है।

दासता के कई कारण हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा बलवान् है। वह उस पर अधिकार जमा लेता है। यह व्यक्ति की दासता है। समाज का एक भाग गिरोह बनाकर, शस्त्रों की सहायता से या छल से, दूसरे भाग पर काबू पा जाता है। यह सामाजिक दासता है। दासता के प्रकारों की विवेचना में हम नहीं जाना चाहते। हमें केवल यहाँ इतना दिखाना है कि किसी व्यक्ति या जाति की स्वाधीनता की उलटी दासता और दासता की उलटी स्वाधीनता है।

यहाँ रहस्य की यह बात कह देनी आवश्यक है कि दासता एक भावरूपी वस्तु है और स्वाधीनता अभावरूपी। जैसे दुःख एक भावरूपी वस्तु है और दुःख के अभाव का नाम सुख है, उसी प्रकार मनुष्य की स्वाभाविक परिस्थिति तो स्वाधीनता कही जाती है, परस्पर बन्धन पड़ने से दासता का जन्म होता है। बन्धन के हटते ही से फिर स्वाधीनता का राज्य हो जाता है। रूसो के इस कथन का कि "मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ है", यही अभिप्राय है।

हमने दासता और स्वाधीनता दोनों के स्वरूप और परस्पर संबन्धों का विवेचन कर लिया। इसका स्वाभाविक निष्कर्ष* यह है कि मनुष्य-जाति की उन्नति तभी संभव है जब उसे विकास की स्वाधीनता मिल जाय। विकास की स्वाधीनता के मार्ग में जो विघ्न उपस्थित होते हैं, वे दासता के नाम से पुकारे जाते हैं। दासता की फौलादी जूती पाँव से उतारे बिना व्यक्ति या जाति के पाँव आगे बढ़ने योग्य नहीं हो सकते। दासता का शिकंजा मजबूत हो जाने पर प्रायः मनुष्य के हृदय में एक कुलबुलाहट पैदा होती है, जो उसे कहती है कि तू इस शिकंजे में से निकल। यदि शिकंजा अभी बहुत मजबूत नहीं हुआ, तो वह थोड़े परिश्रम में टूट जाता है, परन्तु यदि दासता के बन्धन

बहुत दृढ़ हो चुके हैं, तो मनुष्य को व्यक्तिरूप में या समष्टिरू
में एक हलचल पैदा करनी पड़ती है और उसी का नाम
क्रान्ति, जो व्यक्तिगत अथवा समष्टिगत जीवन की रूढ़ियों
और कमजोरियों को हटाकर उसमें स्वाधीनता का प्राण फूँक
देती है।

विज्ञान

(श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी)

जो गत शताब्दी के विज्ञान का इतिहास जानते हैं, उन्हें ज्ञात है कि विश्व के सभी तत्त्वों का संग्रह करने के लिए योरुप ने कितनी चेष्टा की है। पदार्थ-विज्ञान से मनो-विज्ञान और मनो-विज्ञान से मानव-विज्ञान और समाज-विज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई है। मनुष्य-जाति का आदि और अन्त, उसकी सभ्यता का लक्ष्य तथा उसके सभी ज्ञानों का पारस्परिक सम्बन्ध, आदि सभी विषयों की आलोचना कर मनुष्य थक-से गये हैं। संसार की बड़ी-से-बड़ी और छोटी-से-छोटी वस्तु का संग्रह कर मनुष्य ने अपने ज्ञान के क्षेत्र को खूब विस्तृत कर लिया है। विज्ञान की इसी चेष्टा से साहित्य, दर्शन आदि शास्त्रों ने भी प्राचीन रीति को छोड़कर वैज्ञानिक रीति का ही अवलम्बन* किया है। जगत्, आत्मा और ईश्वर के सम्बन्ध में जिन धारणाओं को भ्रमशून्य मानकर दर्शन-शास्त्र ने अपने तत्त्वों को प्रतिष्ठित किया था, उनके भी मूलसिद्धान्तों के सम्बन्ध में अब लोग सशयालु हो गये हैं। साहित्य में नो विज्ञान ने मनुष्य के अन्तर्जगत् का रहस्योद्घाटन* किया। भिन्न-भिन्न कालों में मनुष्य का मन एक ही संस्कार को तन ही नवीन रूपों में देखता है प्रत्येक मन एक स्वतन्त्र

जगत् ही है। इसलिए अब मूलसिद्धान्तों की विवेचना कर भिन्न-भिन्न तत्वों की रचना करने की ओर दर्शन-शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं है। अब वैचित्र्य में ही एकता का अनुसंधान करने में दर्शन अपनी कृतकृत्यता समझता है।

योरुप में विज्ञान की उन्नति के साथ-ही-साथ दार्शनिक मत में परिवर्तन हुए। इस से प्राचीन धर्म-विश्वास शिथिल होने लगा। हर्बर्ट स्पेंसर ने संशय-वाद का उपक्रम किया। बहिर्जगत् के साथ अन्तर्जगत् का समन्वय स्थापित करने का फल यह हुआ कि मन के सभी संस्कार वर्जित हो गए। वैज्ञानिक उन्नति के द्वारा मनुष्य के धर्म-भाव पर इतना घोर आघात हुआ कि नीति, कला और साहित्य, सभी में संशय-वाद की प्रधानता हो गई।

यह तो सर्वमान्य है कि विज्ञान ने मनुष्य को बहुत-सी भौतिक सुविधाएँ प्रदान की हैं। यातायात के साधनों में रेलवे, स्टीमर, हवाई जहाज आदि के आविष्कारों से विस्मयजनक उन्नति हुई है। टेलीग्राफ, टेलीफोन और बेतार-के-तार द्वारा घर बैठे हजारों-लाखों कोसों की दूरी पर रहने वाले मित्र के समाचार क्षण भर में ज्ञात हो जाते हैं। मुद्रण-कला के महत्वपूर्ण आविष्कार के द्वारा विद्या-प्रचार में बड़ी भारी आसानी हो गई है। डाक्टरों ने वैज्ञानिक रीति से सर्जरी-विद्या सीखकर मनुष्य को भीषण यातनाओं* से बचा लिया है। विज्ञान की सहायता से बहुत से रोगों की अव्यर्थ औषधियाँ ढूँढ निकाली गई हैं, जिनको मनुष्य पहले सर्वथा असाध्य समझा करते थे। वैज्ञानिक युग से पहले बहुत-से संक्रामक* रोगों के कारण मृत्यु-संख्या बढ़ जाती थी, अतएव लाचार होकर लोगों को अनेक यंत्रणाएँ सहनी पड़ती थीं। इस क्षेत्र में विज्ञान ने कोई बड़ा भारी उपकार किया है। दूसरी ओर

फल-कारखानों के आविष्कार से नाना प्रकार की शिल्पोन्नति होने के कारण आज जीवन बहुत ही सुखमय हो रहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि इस फूल में काँटे की भाँति पूँजीवाद का जन्म हुआ है, जिसके कारण पूँजीपतियों ने श्रम-जीवियों का खून चूसना अपना धर्म समझ रखा है। सच पूछा जाय, तो कभी-कभी हमको इस विज्ञान-वाटिका में फूलों की महक से उतना आनन्द नहीं मिलता, जितना इन तीखे काँटों का डर लगा रहता है। ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो स्पष्ट हो जायगा कि पूँजी-प्रधान शिल्पवाद ने इस भूतल पर प्रकारय अथवा अप्रकारय रूप से अनेक युद्ध ठान दिये हैं; अनेक पिछड़े हुए देशों को दासता और अत्याचार की भयंकर बेड़ियों से जकड़ दिया है। विज्ञान ने मनुष्य की उत्पादक शक्ति के साथ विघातक शक्ति को भी सैकड़ों गुणा बढ़ा दिया है। किन्तु प्रश्न यह है कि विज्ञान के दुरुपयोग से जो बुराइयाँ फैल रही हैं, उनके लिए विज्ञान उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, या नहीं? क्या आग इसीलिए बड़ी बुरी चीज है कि उसके द्वारा बहुत-से दुष्टात्मा गरीबों के घर फूँक डालते हैं? जल्लाद की तलवार, डाक्टर का नश्तर और मिस्त्री का हथौड़ा, सभी एक लोहे के बने होते हैं। इसलिए क्या कोई लोहे को बुरा कह सकता है? यदि जल्लाद अपनी तलवार से दूसरे की गरदन काटता है, तो उसमें लोहे का क्या दोष? इसके अतिरिक्त विज्ञान तो पूँजीवाद की बुराइयाँ दूर करने के लिए अनेक उपायों—जैसे सहयोग या लाभ-वितरण आदि—का अवलंब ले रहा है, जिससे आशा की जाती है कि धीरे-धीरे ये बुराइयाँ जाती रहेंगी। विज्ञान यह सिद्ध करना चाहता है कि वैज्ञानिक पूँजी-प्रधान शिल्पवाद और मनुष्यों के पाशविक अत्याचार में कोई वास्तविक अनिवार्य सबन्ध नहीं है।

संप्रति हमको यह देखना है कि विज्ञान ने मनुष्य के आध्यात्मिक मार्ग में कोई रुकावट तो नहीं डाली है, और यह यदि सहायक हुआ है, तो कहां तक ? सबसे पहले विज्ञान ने मनुष्य को 'सत्य के लिए सत्य की खोज' करना सिखा दिया है। विज्ञान ने हमको यह पाठ पढ़ा दिया है कि एक ही नियम इस अनंत ब्रह्मांड में व्याप्त है। विज्ञान ने मनुष्य को उस ईश्वर के दर्शन और अनुभव करने की शक्ति दी है, जिसकी इच्छा और ब्रह्मांड की घटनाओं में सर्वथा एकता है। विज्ञान के कारण हमारे अंतःकरण से उस ईश्वर की प्रतिष्ठा हटती जाती है, जो मनमाने खेल-तमाशे किया करता था, जो सांसारिक प्राणियों की तरह राग-द्वेष या हर्ष-शोक के झंझट में फँसा रहा करता था। विज्ञान ने मनुष्य के सामने ब्रह्मांड की अनंतता खोल कर रख दी है। इस अनन्त ब्रह्मांड में उसकी और उसके झोंपड़े की क्या स्थिति है, इस पर विचार करते ही उसका अज्ञान-जनित मिथ्या गर्व चकनाचूर हो जाता है। साथ ही विज्ञान ने यह बतलाकर मनुष्य के सच्चे आत्मविश्वास और आत्मसम्मान की नींव डाल दी है कि मनुष्य किस अवस्था से उन्नत होकर किस अवस्था में पहुँच गया है। वह पशु-कोटि से उठकर मनुष्य-कोटि में किस प्रकार पहुँचा है। विज्ञान ने अनेक प्रकार के दुःखों का विश्लेषण* किया है। उससे मनुष्य को विज्ञानातीत धार्मिक व्याख्याओं की अपेक्षा आशावादी बनने में अधिक सहायता मिलती है। किसी वैज्ञानिक ईश्वरवादी को वैसी घबराहट कदापि नहीं हो सकती, जैसी कूपर-सरीखे धर्मनिष्ठ विद्वान को स्वेच्छाचारी ईश्वर से हुआ करती थी।

सिद्धांत के अतिरिक्त व्यवहार में भी विज्ञान सार्वभौमिक कार्यों के संचालन में सहायता कर रहा है। विज्ञान ने उन सैकड़ों अभागे निस्सहाय प्राणियों का जीवन सार्थक बना दिया

है, जो पृथ्वी पर भाररूप समझे जाते थे। पहले हम अंधे, लूले, लँगड़े आदि को भोजन-वस्त्र देकर ही संतुष्ट हो जाते थे। इतनी ही हमारी सामर्थ्य थी। किन्तु आज वैज्ञानिक आविष्कारों के द्वारा हम उनको शिक्षा दे सकते हैं, जिससे वे केवल रुपया ही नहीं कमा सकते, वरन् हमारे समाज के उत्साही और उपयोगी अंग बन जाते हैं।

यातायात*, पत्र-व्यवहार या समाचार-वितरण के उन्नत साधनों का भी भौतिक सुविधा के अतिरिक्त एक आध्यात्मिक पक्ष है। संसार-भर के मनुष्य परस्पर भाई-भाई हैं, यह एक सिद्धांत अभी तक सिद्धांत मात्र था; किन्तु विज्ञान को इतने से संतोष नहीं हो सकता। वह इन साधनों के द्वारा यह दिखलाना चाहता है कि वास्तव में संसार एक बड़ा भारी कुटुंब है।

यह सर्वमान्य है कि संसार में जो कुछ सुन्दर और श्रेयस्कर* दिखाई दे रहा है, वह सब मनुष्य की आत्मा से ही प्रकट हुआ है। मनुष्य ने ही सभ्यता के प्रत्येक अंग—शासक और शासित, मंदिर और मसजिद, शिल्प और कला, पूँजी और मशीन, सभा और संगठन आदि—का निर्माण किया है। मनुष्यों ने ही भाषाएँ बनाई हैं। मनुष्यों ही ने पुराणों की रचना की है। मनुष्यों ने ही धर्म चलाये हैं। मनुष्यों ने ही स्वर्ग और नरक की सृष्टि की है। कुरान, बाइबल और गीता भी उन्हीं की उपज है। ब्रह्मा, विष्णु से लेकर भूत-प्रेत तक सभी उसकी आत्मा से प्रकट हुए हैं। यह तो सच है कि ईश्वर ने मनुष्य को बनाया है, किन्तु आजकल बहुत-से मनुष्य यह भी कहने लगे हैं कि नहीं, मनुष्य ने ईश्वर को बनाया है। कुछ भी हो, मनुष्य के

सबसे अधिक गौरव की बात यह है कि उसने अपने आपको जंगली पशुओं की श्रेणी से उठाकर मनुष्य बना लिया है। सैकड़ों वर्ष बाद भी इसे यही गर्व रहा होगा कि वह कभी

आज हम अपनी यात्रा के मध्य में आ गये हैं। बहुत संभव है, अंत तक पहुँचते-पहुँचते हम अपनी वर्तमान अवस्था को भूल जायँ, जैसे कि आज हम अपनी प्रारम्भिक दशा को भूल रहे हैं। भविष्य का अनुमान करने के लिए भूतकाल पर दृष्टिपात करने के अतिरिक्त क्या और कोई अच्छा उपाय हो सकता है? प्रकृति देवी अपने विकासवाद के द्वारा निरंतर हमको आशा का मन्त्र पढ़ाया करती है।

आशा के अतिरिक्त हमको आत्मविश्वास की बड़ी भारी आवश्यकता है। यह तो प्रत्यक्ष है कि हमारा मस्तिष्क और शरीर आकाश से संसार में नहीं आ टपका है, हमारी अन्तरात्मा से ही इसका विकास हुआ है। मनुष्य परमात्मा का सबसे प्यारा पुत्र है। वनचर से लेकर धर्मनिष्ठ तक, गुहावासी* से लेकर नागरिक तक, मांसपिंड से लेकर सभ्यता के शिखर तक अनेक रूपों में हमने भ्रमण किया है, और यही कहानी हमारे ज्ञान-कोश का असली तत्व है। इस सुन्दर संसार में योग्यतम को सदैव विजयश्री प्राप्त होती रही है। उसमें सैकड़ों त्रुटियाँ भले ही हों, पर है यह संसार की सर्वोत्तम वस्तु। उसकी कमजोरियाँ उसकी अपरिपक्व अवस्था की सूचना देती हैं। अच्छा, यदि मनुष्य ही इस ब्रह्मांड का सिरमौर है, तो उसका कौन-सा गुण सर्वोच्च और सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है, उसकी वृद्धि का मुख्य आधार क्या हो सकता है, उसकी उन्नति का असली स्रोत क्या हो सकता है, जिससे उसके उत्तरोत्तर विकास की गारंटी की जाती है। एक शब्द में इसका उत्तर है 'प्रेम'। यही मानवी प्रकृति का केन्द्र है। मनुष्य में यही सबसे प्राचीन और सबसे अधिक शक्तिशाली वस्तु है। जहाँ देखिए, वहाँ—जंगल में या शहर में, महल में या झोपड़ी में—हर जगह इसी का साम्राज्य छाया हुआ है। वास्तव में, बाइबल में उन

दी है। आज भी बहुत-से नवयुवकों के सामने अपने जीवन का धंधा निश्चित करते समय यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कहाँ मैं सबसे अधिक कमाई कर सकूँगा, चाहे मुझे वहाँ सबसे अधिक रुपया न मिले? स्त्रियों में, जिनके हाथ में आज शक्ति आ रही है, प्रेम का अनुभव करने की शक्ति पुरुषों की अपेक्षा अधिक होती है। अतएव उनको संसार की अवस्था सुधारने के लिए उद्योगशील होना चाहिए। आजकल मनुष्य अपना पेट नहीं भरना चाहते, बल्कि अपना घर भरना चाहते हैं। इसी लालच और तृष्णा के कारण सैकड़ों बुराइयाँ संसार में फैल रही हैं, स्वार्थ और मिथ्या अहंकार की बेहद वृद्धि हो रही है। स्त्रियों को ऐसे संकट के समय प्रेम और सेवा का आदर्श स्थापित करना चाहिए। इस वैज्ञानिक युग में ऐसा आविष्कार होना चाहिए, जिससे मनुष्य को अपनी प्रेम करने की शक्ति का यथार्थ अनुमान हो जाय। सभ्यता और शिक्षा का सबसे प्रथम कर्तव्य यह है कि मनुष्य की प्रेम-शक्ति संसार के सबसे अच्छे और सबसे ऊँचे पदार्थ में लगे, और उसको प्रेम की स्फूर्ति का अनुभव होने लगे। ऐसी अवस्था में आज जो हमारे नेता बने हुए हैं, वे नेता न रह जायँगे। प्रेम ही सदाचार की पराकाष्ठा* है। युद्ध की समाप्ति के लिए प्रेम ही सबसे अधिक उपयोगी है। आधुनिक बुराइयाँ दूर करने के लिए आजकल जो अनेक उपाय किये जा रहे हैं, प्रेम की स्थापना होने से उनकी यथार्थ जाँच हो जायगी। जो देखने ही के नहीं, वरन् सचमुच मनुष्य हैं, उनके अन्तःकरण में यह शक्ति अवश्यमेव किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहती है। यदि उसको व्यक्त करने के लिए कोई सीधा मार्ग निकल आवे, तो फिर हमको किसी सुधार की आवश्यकता न रहेगी। इसी सिद्धांत के कारण आधुनिक अर्थ-शास्त्र और समाज-शास्त्र में बड़ा परिवर्तन हो रहा है।

मनुष्य केवल अपने स्वार्थ की सिद्धि और लोभ-वासना की पूर्ति के लिए यत्न करता है। उसका यथार्थ जीवन कितना ही पवित्र, निर्लोभ और निष्काम क्यों न हो, वह व्यवसाय के क्षेत्र में अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए ही सचेष्ट रहता है। सबसे सस्ता खरीदना और सबसे महँगा बेचना, यही उसका एक-मात्र ध्येय होता है। यदि उसकी गति कभी अवरुद्ध होती है, तो न्यायान्याय के विचार से नहीं, किन्तु पारस्परिक स्पर्धा, माँग और पूर्ति के नियम से। रस्किन ने इसी शास्त्र के विरुद्ध लेख लिखकर सत्य का प्रचार किया है। सच तो यह है कि सत्य ही की खोज में रस्किन को संपत्ति-शास्त्र का खंडन करना पड़ा। सिर्फ संपत्ति-शास्त्र की ही नहीं, किन्तु साहित्य, कला और धर्म की भी उसने अच्छी तरह परीक्षा की। पहले-पहल लोगों ने उसके सिद्धान्तों का उपहास किया, परन्तु आज साहित्य, धर्म, कला अथवा संपत्ति-शास्त्र का ऐसा कोई भी आचार्य नहीं है, जो यह कहे कि उसका शास्त्र उसी रूप में आज तक विद्यमान है। यह सभी को स्वीकार करना पड़ेगा कि रस्किन ने विचार-स्रोत* की गति बदल दी है।

विजया की प्रथम प्रतिष्ठा

(श्री आचार्य विश्वबन्धु)

अयोध्यापुरी में घोषणा हो चुकी थी कि दूसरे दिन प्रातः ही महाराज दशरथ की आज्ञा के अनुसार श्रीरामचन्द्र को युवराज के पद पर अभिषिक्त किया जायगा। जनता श्रीरामचन्द्र के वीरता, गम्भीरता, नम्रता, धर्मपरायणता आदि दिव्य गुणों

अच्छा हो यदि श्री रामचन्द्र इस आज्ञा का उल्लंघन कर दें और अपने आप राज्य का कार्य सँभाल लें।

परन्तु श्री रामचन्द्रजी अपनी स्वाभाविक गम्भीर मुद्रा में स्थिर थे। उनकी मुख-श्री में कोई कुम्हलाहट नहीं आई। उन्होंने माता कैकेयी को हलकी-सी मुसकान से केवल इतना ही कहना पर्याप्त* समझा—"मुझे पिता जी की और आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। मैं जीते-जी पिताजी के वचन को कभी झूठा न होने दूँगा। उनको मुझ पर पूर्ण अधिकार है। मैं अपने सुख-स्वार्थ की लालसा से कभी भी उनके इस अधिकार का तिरस्कार न करूँगा, न होने दूँगा। मैं पितृ-चरणों में समर्पित हो चुका हूँ। वे जहाँ चाहेंगे वहाँ रहूँगा और जो चाहेंगे, वह करूँगा। बस, मुझे अब जाने की अनुज्ञा दीजिए।"

इतना कहने के पश्चात् पिता तथा कैकेयी के चरणों में मस्तक झुकाकर श्री रामचन्द्र बाहर निकल गये।

माता कौशल्या ने प्रभात में श्री रामचन्द्र से यह समाचार सुना तो बौखला गई। उसने माता के अधिकार को पिता के अधिकार से गुरुतर बताते हुए स्नेहमयी प्रेरणा करनी चाही कि श्रीरामचन्द्र वन को जाने का विचार न करें। लक्ष्मण ने पिता की मोहभरी अवस्था तथा अपनी क्षत्र-बाहुता का संकेत करते हुए श्रीरामचन्द्र को उत्तेजित करके राज्य सँभालने के लिए तैयार करना चाहा। सीताजी ने उनके संग वन जाने का दृढ़ संकल्प प्रकट करते हुए, मानो, उन्हें वन जाने से रोकना चाहा। मन्त्रिमण्डल तथा प्रजामण्डल ने उनके प्रति अपनी पूर्ण भक्ति प्रकट करते हुए और महाराज दशरथ की इस आज्ञा की निन्दा करते हुए, मानो, उनके हाथ में राज-मुकुट सौंप देना चाहा। स्वयं भरत ने उनके पीछे अयोध्या में पहुँच कर यह घटना सुनी, तो अपनी माता का दुरिच्छा का अनादर करते हुए

न जाने क्या-क्या कष्ट उठाने पड़ेंगे और स्वयं मुझ पर न जाने क्या बीतेगी—यह सब कुछ था, और वे इस काले बादल को अपने सामने स्पष्ट देख रहे थे। परन्तु क्षण-क्षण में उनकी ध्रुव-सम अन्तरात्मा का विशुद्ध प्रकाश उस काले बादल को भी आच्छल्यमान कर रहा था। राज्य श्रीरामचन्द्र के लिए नहीं था। वे राज्य के लिए थे। प्रजा के सेवक, पालक और शिक्षक बनकर राज-मर्यादारूपी धर्म के संस्थापन तथा राजमर्यादा-भंगरूपी अधर्म के नाश के लिए ही उनका अवतार हुआ था।

प्रतिवर्ष ही विजया अर्थात् विजयदशमी आती है और श्रीरामचन्द्र द्वारा किये गये अधर्म-नाश की वार्ता को हमारे स्मृति-फलक पर नये सिरे से अङ्कित करती हुई चली जाती है। परन्तु यह उससे भी कहीं अधिक ध्यान देने और स्मरण रखनेवाली वार्ता है कि अयोध्या-विजय की आधार-शिला उस समय रखी गई थी जब श्रीरामचन्द्र आत्म-विजयी होकर वनवास को निकल पड़े थे। आत्म-भूमि में धर्म-संस्थापन करना ही अधर्म-नाश के लिए योग्यता पैदा करना है। सच्चा आत्म-विजय ही इस धर्म-संस्थापन का द्वार है।

'जो मनुष्य अपने कर्तव्यों की अधिक मीमांसा* करते हैं और अपने अधिकारों की कम रट लगाते हैं, वे अपने जीवन में अवश्य ही कुछ ठोस कार्य कर जाते हैं।' प्रत्येक सच्चे राष्ट्र-सेवक की ऐसी ही मानसिक धारणा होती है और होनी भी चाहिए।

जायगा ? यह मालपूआ और मोहनभोग आरोगनेवाला भगवान् उन भिखारियों की रूखी-सूखी रोटी खाने जायगा ? कभी नहीं हो सकता। हम अपने बनवाये हुए विशाल राज-मन्दिरों में उन दीन-दुर्बलों को आने भी न देंगे। उन पतितों और अछूतों की छाया तक हम अपने खरीदे हुए खास ईश्वर पर न पड़ने देंगे। दीन-दुर्बल भी कहीं ईश्वर-भक्त होते सुने हैं ? ठहरो, ठहरो, यह कौन गा रहा है ? ठहरो, जरा सुनो। वाह ! तब यह खूब रहा !

मैं ढूँढता तुझे था जब कुंज और बन में,
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में।
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था,
मैं था तुझे बुलाता संगीत में, भजन में।

तो क्या हमारे श्री 'लक्ष्मीनारायण' जी 'दरिद्र-नारायण' हैं ? इस फकीर की सदा से तो यही मालूम हो रहा है। तो क्या हम भ्रम में थे ? अच्छा, अमीरों के शाही महलों में यह पैर भी नहीं रखता !

मेरे लिए खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू,
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन* में,

हजरत खड़े भी कहाँ होने गये।

बेबस गिरे हुओं के तू बीच में खड़ा था,
मैं स्वर्ग देखता था झुकता कहाँ चरण में !

तो क्या इस दीनबन्धु को अब यही मंजूर है कि हम अमीर लोग, धन-दौलत को लात मार कर उसकी खोज में दीन-हीनों की झोंपड़ियों की खाक छानते फिरें ?

दीन-दुर्बलों को अपने असह्य अत्याचारों की चक्की में पीसने वाला धनी, परमात्मा के चरणों तक कैसे पहुँच सकता है धनान्ध का स्वर्ग का द्वार [illegible] नहीं। महात्मा

दीन-बन्धु का निवास-स्थान दीन-हृदय है। दीन-हृदय ही मन्दिर है, दीन-हृदय ही मस्जिद है, दीन-हृदय ही गिरजा है। दीन-दुर्बल का दिल दुखाना भगवान् का मन्दिर ढहाना है। दीनों को सताना सबसे भारी धर्मविद्रोह है। दीन की आह समस्त धर्मकामों को भस्मसात्* कर देने वाली है। सन्तवर मलूकदास ने कहा है:—

"दुखिया जनि* कोइ दूखिये, दुखिये अति दुख होय।
दुखिया रोइ पुकारि है, सब गुड़ माटो होय॥"

दीनों को सताकर, उनकी आह से कौन मूर्ख अपने स्वर्गीय जीवन को नारकीय बनाना चाहेगा? कौन ईश्वर-विद्रोह करने का दुस्साहस करेगा? ग़रीब की आह भला कभी निष्फल जा सकती है—

'तुलसी' हाय गरीब की, कबहुँ न निष्फल जाय।
मरे बैल की चाम सों, लोह भस्म ह्वै जाय॥

और की बात हम नहीं जानते, पर जिसके हृदय में थोड़ा-सा भी प्रेम है, वह दीन-दुर्बलों को कभी सता ही नहीं सकता। प्रेमी निर्दयी कैसे हो सकता है? उसका उदार हृदय तो दया का आधार होता है। दीन को वह अपनी प्रेममयी दया का सबसे बड़ा और पवित्र पात्र समझता है। दीन के सकरुण नेत्रों में उसे अपने प्रेमदेव की मनमोहिनी मूर्ति का दर्शन अनायास प्राप्त हो जाता है। दीन की मर्मभेदिनी* आह में उस पागल को अपने प्रियतम का मधुर आह्वान सुनाई देता है। इधर वह अपने दिल का दरवाजा दीन-हीनों के लिए दिन-रात खोले खड़ा रहता है, और उधर परमात्मा का हृदय-द्वार दीन प्रेमी का स्वागत करने को उत्सुक रहा करता है। प्रेमी का हृदय दीनों का भवन है। दीनों का हृदय दीनबन्धु

करके संसार में भेजा है। किसी को सींग, किसी को तेज दाँत, किसी को डंक और किसी को तीक्ष्ण नख प्रकृति की ओर से ही मिले हुए हैं जिनसे वे अपने शत्रुओं से अपना बचाव स्वयं कर सकते हैं। अपनी रक्षा के लिए वे किसी के मुहताज* नहीं। अपने रहन-सहन, खान-पान और वेष-भूषा के लिए भी उन्हें किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं। उन्हें रहने के लिए न घरों की जरूरत है, न पहनने के लिए कपड़ों की, न खाने के लिए दूसरों के बनाये हुए भोजन की और न बीमारी में डाक्टर की। उनकी आवश्यकताएँ उनके अपने अधीन हैं।

पर, मनुष्य, जो अपने आपको संसार के सब जीवों से श्रेष्ठ मानता है, इस अंश में, निःसन्देह, अधूरा है। इसे प्रकृति ने सींग आदि के समान अपनी रक्षा का कोई साधन नहीं दिया। ना ही इसे ऐसा सुदृढ़* और बलिष्ठ बनाया है कि यह बिना किसी दूसरे की सहायता के, जीवित रह सके। इसे अपने पालन-पोषण के लिए, खान-पान के लिए, रहन-सहन के लिए, वेष-पहिरावे के लिए तथा ज्ञान-विज्ञान के लिए सदा अपने साथियों की आवश्यकता रहती है। मनुष्य को अपने हर काम के लिए दूसरों का मुँह ताकना पड़ता है। जहाँ गौ और बकरी का बच्चा पैदा होते ही चलने-फिरने लगता है, बन्दर का बच्चा जन्म से ही तैरना जानता है, वहाँ मनुष्य का बच्चा पैदा होते ही दूसरों का मुहताज होता है। चलना-फिरना और तैरना तो दूर रहा, इसे तो बैठना और खाना तक भी नहीं आता। यदि माता अपनी अगाध* ममतामयी सेवा-शुश्रूषा से उसका पालन न करे, तो शायद उसका संसार में जीवित रहना भी असंभव हो जाय। मनुष्य के बच्चे को जितनी दूसरों की सहायता की आवश्यकता है, उतनी और किसी जन्तु के बच्चे को नहीं।

माता हमारी रोटी न पकाये, यदि नौकर हमारे बरतन साफ न करे, और यदि ये सभी काम हमें स्वयं करने पड़ें, तो प्रत्येक बालक सोच सकता है कि उसकी पढ़ाई के लिए कितना समय मिल सकता है। इस प्रकार प्रत्येक बालक की पढ़ाई में और फलतः उसके द्वारा उन्नति और महत्ता* प्राप्त करने में उन सब धोबी, नाई, पाचक और दूसरे असंख्य मनुष्यों की सेवा का पर्याप्त भाग है। उन सबके परिश्रम तथा सहयोग का फल पड़ा कर ही एक बालक पढ़ाई कर सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य का यह अभिमान मिथ्या है कि मैं अकेला और निरपेक्ष* होकर रह सकता हूँ। मनुष्य तो छोटे-छोटे कामों में—और आत्मरक्षा तथा वृद्धि आदि बड़े-बड़े कामों में भी—सदा दूसरों की सहायता पर आश्रित है। इतर* प्राणियों से मनुष्य इस अर्थ में, निश्चय ही, बुद्ध हीन है।

अपनी इस हीनता की पूर्ति मनुष्य सामाजिक जीवन से करता है। सामाजिक जीवन पशुओं में भी है सही, पर उनमें वह इतना सीमित नहीं, जितना मनुष्यों में है। सामाजिक जीवन से जहाँ मनुष्य की उपर्युक्त कमी की पूर्ति होती है, वहाँ इसके जीवन की सारी सरसता, सारे सुख-आनन्द और सद्गुणों का कारण भी सामाजिक जीवन ही है। समाज से ही इसे जीवन मिलता है, समाज से ही वृद्धि एवं शक्ति मिलती है, समाज के द्वारा ही इसका रक्षा होता है और समाज ही इसकी वृद्धि और समुन्नति का कारण है। संक्षेप में अकेला व्यक्ति इस अनन्त संसार में तिनके समान अकिञ्चित्कर* है और समाज [illegible] में आकर ही वह सब कुछ है। एक शब्द में मनुष्य है [illegible] समाज है।

[illegible] यहाँ आज के [illegible] आज

समता और समानता के अधिकार प्रदान करे। कतिपय सत्ता-धारी व्यक्तियों के हाथों निर्बलों और छोटों पर अत्याचार न होने दे। इसी परस्पर-भावना में संसार की सच्ची शान्ति का मूलमंत्र निहित* है।

सञ्चय

(अनु० श्री पं० जनार्दन झा)

"कर्तव्यः सञ्चयो नित्यं कर्तव्यो नातिसञ्चयः।"

यदि मनुष्य सारी उम्र परिश्रम करने में समर्थ होता, तो हमें अपव्यय* आदि हानिकारक विषयों के विरुद्ध कुछ कहने की जरूरत न थी और तब आमद-खर्च बराबर करने पर भी दुःख से समय बिताने का प्रसङ्ग न आता। क्योंकि रोज-रोज की आय से रोज-रोज का अभाव दूर होता जाता। किन्तु सारी उम्र कोई काम नहीं कर सकता। युवावस्था की शक्ति आधी उम्र बीतने पर नहीं रहती और अर्धवयस्क की शक्ति बुढ़ापे में नहीं रहती। मतलब यह कि बाल्यावस्था में मनुष्य जैसे जीविका प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं, वृद्धावस्था में भी वैसे ही असमर्थ हो जाते हैं। कितने ही तो बुढ़ापे के पहले ही रोग-शोक के द्वारा स्वास्थ्य खो बैठते हैं, और कोई काम करने योग्य नहीं रहते। तब उनकी यह पहली शक्ति, श्रमसहिष्णुता* और उद्योगपरता* एक भी काम नहीं आती। उस समय उन्हें या तो अपने को दूसरे की शक्ति और कमाई पर निर्भर रहना पड़ता है, या अपनी युवावस्था के सञ्चित धन पर। मनुष्य यदि जङ्गली जानवरों की तरह अपने जीवन को व्यतीत कर सकते और फल मूल किंवा जानवरों के मांस से ही अपना

सञ्चय करने का क्या उपाय है ? धनवत्ता उपार्जन के ऊपर निर्भर नहीं है। कोई कितना ही धन प्राप्त करे उससे उसकी धनिकता व्यक्त नहीं होती। धनिकता खर्च और सञ्चय के द्वारा ही जानी जाती है। खर्च करके जो कुछ सञ्चय किया जाता है यथार्थ में वही धन है। अपने और अपने पोष्य-वर्ग के आवश्यक खर्च के लिए जितने धन का प्रयोजन है उतने से अधिक उपार्जन करके जो लोग कुछ सञ्चय करते हैं, वे निःसंदेह समाज की उन्नति के हेतु-स्वरूप हैं। सञ्चय की मात्रा अत्यल्प ही क्यों न हो, किन्तु उनका स्वाधीन-चेता और आत्मनिर्भर बनाने के हेतु वही यथेष्ट है। पहले की अपेक्षा इन दिनों क्रेय वस्तुओं का मूल्य बहुत बढ़ गया है। यह सच है कि जो चीज पहले एक रुपये की मिलती थी वह अब दो रुपये देने से भी नहीं मिलती। और आमदनी में वैसा वृद्धि हुई नहीं है। चीज महँगी होने से रुपये का खर्च बढ़ गया है सही, किन्तु जिनकी जो आय है उसमें से यदि नित्य प्रयोजनीय वस्तुएँ ही खरीदी जायँ, और फिजूल कामों में एक पैसा भी खर्च न किया जाय तो प्रत्येक गृहस्थ कुछ-न-कुछ सञ्चय अवश्य कर सकता है। जो लोग सञ्चय नहीं कर सकते कहें समझना चाहिए कि ऐसा कोई कारण अवश्य है जिससे प्रयोजन के अतिरिक्त भी खर्च हो जाता है। खोज करने से पता लग सकता है कि विलास-प्रियता की, या अपनी अवस्था से बढ़कर आराम की चाह मन में या आडम्बर में अनावश्यक खर्च करने अथवा [illegible] इस तरह की कोई ही [illegible] आवश्यक खर्चों की संख्या बढ़ने से [illegible]

फेफड़े खुलते हैं और एक-एक नस से दूषित वायु बाहर निकल आती है। इससे मन को शान्ति होती है। बहुत-सी चिन्ताएँ हँसी की हवा में उड़ जाती हैं। किसी भी प्रकार के मनोरंजन से मन को विश्राम मिल जाता है।

पूर्ण विश्राम का प्रधान साधन निद्रा है। स्वाभाविक मानसिक तथा शारीरिक शान्ति पूर्ण मात्रा में उसीसे मिलती है। इसलिए उचित मात्रा में प्रगाढ़ निद्रा शरीर के लिए सबसे प्रमुख 'टॉनिक'* होती है। निद्रा के सम्बन्ध में विशेष रूप से कुछ जान लेना आवश्यक है।

निश्चित समय पर स्वाभाविक निद्रा ही स्वास्थ्य-प्रद होती है। उसको प्राप्त करने के लिए सुंदर पलंग और बिछौने की उतनी आवश्यकता नहीं होती, जितनी स्वाभाविक आहार और परिश्रम की। पाचन-क्रिया ठीक रखने से और दिन में कुछ शारीरिक परिश्रम करने से रात में अच्छी नींद आती है।

नींद एक शारीरिक क्रिया नहीं, मुख्यतः मानसिक क्रिया है। मस्तिष्क को हलका करने से ही नींद आती है। मन में चिन्ता रहने से वह दूर भागती है। इसलिए लेटने पर किसी ऐसे कार्य की चिन्ता न करनी चाहिए, जिसके सुलझाने में मन को विचार करना पड़े। किसी पुराने विषय को सोचिए—ऐसे विषय को सोचिए, जिसमें आपको सफलता मिल चुकी हो। किसी मधुर-स्मृति* में मन को लगाइये। उससे यह होगा कि मनको चिन्तन न करना पड़ेगा, वह सुलझी-सुलझाई बातों का रस लेगा और जानी-बूझी गलियों ही में घूमेगा। उस पर नये विचारों का दबाव न पड़ेगा और वह रस-मग्न होकर सो जायगा। मनोवैज्ञानिकों ने निद्रा का यही श्रेष्ठ उपाय बताया है। दूसरा उपाय है सोने के पहले कोई मनोरंजक उपन्यास, कहानी या काव्य पढ़ना अथवा स्वजनों से प्रभालाप करना।

प्राचीन काल अथवा वैदिक काल में सास-बहू का संबंध ठीक माता और पुत्री के संबंध के समान ही होता था। वधू सास को माता के समान ही आदरणीय और अपना शुभ-चिंतक समझकर उसके आदेशों पर चलना ही अपना कर्तव्य समझती थी। इसके अतिरिक्त सास भी वधू को अपनी पुत्री से अधिक समझकर उससे प्रेमपूर्ण व्यवहार करती थी; उसको धर्म-उपदेश देती थी तथा बड़ों की सेवा करने का महत्व तथा रीति बताकर उसको कभी भी सन्मार्ग से विचलित न होने देती थी। सास कौशल्या जी के धर्म-उपदेशों के कारण ही राम-पत्नी श्री सीताजी अनेक कठिन अवसर पड़ने पर भी पतिव्रत धर्म के पालन करने में अपना नाम संसार में अमर कर गईं। सास द्वारा दिये गए सदुपदेशों के अनेक उदाहरण हमारे प्राचीन साहित्य में पाये जाते हैं। चक्र-व्यूह-रचना के समय उसके ज्ञाता अर्जुन के यहां उपस्थित न होने के कारण अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु, जो १६ वर्ष का निरा बालक था, लड़ाई में जाने के लिए प्रस्तुत हुआ। उसकी नव-वधू उत्तरा पति को युद्ध में जाते देख पतिप्रेम से व्याकुल होकर उसको युद्ध में जाने से विचलित करने लगी। उस समय उसकी सास सुभद्रा के धर्मोपदेशों से प्रभावित होकर ही उत्तरा ने अभिमन्यु को वीर-पत्नी के अनुरूप उत्साह से सुसज्जित कर रणभूमि में भेजा था। रामायण और महाभारत से महाकाव्य के काल के इसी प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

मध्यकाल में भारतवर्ष का राजनैतिक व सामाजिक पतन और यवनों का प्रवेश होने के कारण पर्दे जैसी बहुत सी कुप्रथाएँ प्रचलित हो गईं। इसका मूल कारण तो हिन्दू अबलाओं को यवनों के अत्याचारों से सुरक्षित रखना ही था परन्तु पर्दे के कारण भारत की नारी घर की चहार दीवारी में बन्द

कठिन-से-कठिन कार्य को सुगमतापूर्वक कराने में समर्थ हो सकती है। बहू को सास से उपदेश के रूप में कभी कुछ न कहना चाहिए, प्रत्युत नम्रतापूर्वक, प्रेमपूर्वक, छोटा बनकर, रूढ़िवाद, परदा-प्रथा, दहेज, छुतछात इत्यादि विषयों की हानियाँ बतानी चाहिएँ और विशेष अवसर से लाभ उठाकर सास की मनोवृत्ति का पूरा ध्यान रखते हुए इस भाँति परिस्थितियाँ बनानी चाहिएँ कि सास भी नवप्रगति के औचित्य और लाभ को हृदयङ्गम कर सकें।

बहुओं को अपनी ननद और देवर के साथ अपने छोटे भाई-बहन का-सा प्रेम-पूर्ण शिष्ट व्यवहार करना चाहिए। अवसर पड़ने पर उनकी यथोचित सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए। दुख-सुख के समय उनका विशेष ध्यान रखना चाहिए। ननद-देवरों से सद्व्यवहार करने का सास पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। इससे वे भी बहुओं के साथ अपनी संतान का-सा व्यवहार करने के लिए बाध्य हो जाती हैं।

समय के साथ-साथ जीवन के प्रत्येक पहलू में परिवर्तन करते रहना सफलता, सुख और शांति का स्तंभ है। यह कभी न भूलना चाहिए, कि इस उन्नति के युग में हमारी संतान हमसे एक पीढ़ी आगे रहती है। सास अपने विचार भले न बदले, लेकिन उनको १५ या २० वर्ष आगे के युग में रहने वाली बहू के मनोभावों का विशेष ध्यान रखना ही चाहिए। उनके साथ तथा अपनी संतान के साथ उनको उदारतापूर्ण व्यवहार करना ही पड़ेगा। एक सुशिक्षित नव-वधू को शिक्षा तथा रहन-सहन की अन्य सुविधाएँ देने में संकोच न करना चाहिए। [illegible] यह है कि सास, ननद तथा बहू के विचारों में [illegible] इस कलह का हल है। अतएव बहू को [illegible] दुर्व्यवहार को अपने प्रति ज्ञान बूझ कर

श्री मोहनदास कर्मचन्द गाँधी (१८६९–१९४८)

स्वनामधन्य श्री मोहनदास कर्मचन्द गाँधी का जन्म २ अक्तूबर, सन् १८६९ में काठियावाड़ के पोरबन्दर (प्राचीन नाम सुदामापुरी) में एक प्रतिष्ठित वैश्य घराने में हुआ। आपके पिता श्री कर्मचन्द तथा पितामह श्री उत्तमचन्द गाँधी वहाँ के दीवान थे। आपकी माता अत्यन्त धार्मिक वृत्ति की थीं। कहते हैं कि व्रत, उपवास, अहिंसा तथा सत्य की दृढ़ निष्ठा के पुनीत भाव आपको माता के दुग्ध से ही प्राप्त हुए थे।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा पोरबन्दर में हुई। पीछे राजकोट में आकर आपने मिडल की शिक्षा पाई। १७ वर्ष की आयु में आपने मैट्रिक किया और तभी आपका विवाह भी हो गया। १८ वर्ष की आयु में आपके पिता जी का देहान्त हो गया। सन् १८८८ में आप बैरिस्टरी के लिए लन्दन गये और १८९१ में बैरिस्टर बनकर बंबई हाइकोर्ट में प्रेक्टिस करने लगे। पीछे सन् १८९३ में एक मुकदमे के सम्बन्ध में आप दक्षिण अफ्रीका गये। वहाँ भारतीयों की दुर्दशा देखकर आप बहुत खिन्न हुए और उसी की प्रतिक्रिया के रूप में देश-सेवा की ओर प्रवृत्त हुए। इस दिशा में आपने जो-जो दुष्कर कार्य किये और जिस प्रकार कठिन तपस्या, दृढ़ सत्यनिष्ठा और शान्त सत्याग्रह के द्वारा अपने देश का उद्धार किया, वह सर्वविदित है। इसी के फलस्वरूप आप 'महात्मा गाँधी', 'राष्ट्रपिता' अथवा 'बापू' के नाम से विख्यात हुए।

साहित्य के क्षेत्र में—विशेषतया हिन्दी के प्रचार तथा सुधार के कार्य में—भी आपकी देन अमूल्य है। आप एक कुशल लेखक तथा निर्भीक वक्ता थे। हिन्दी में आपने कई पत्र चलाये। इनके अतिरिक्त आपके 'अफ्रीका-दिग्दर्शन', 'आत्मकथा' आदि अनेक ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं।

अन्त में एक नर पिशाच की गोली से अहिंसा का अवतार,

और संशोधन, (२) नये-नये विषयों पर हिन्दी में निबन्ध लिखकर साहित्य की पुष्टि, (३) आलोचना का परिष्कार और (४) हिन्दी कविता में खड़ीबोली का समावेश और समर्थन करके हिन्दी-पद्य का नूतन संस्कार।

गद्यलेखक के साथ-साथ आप सुलझे हुए कवि और प्रौढ़ समालोचक भी थे। भाषा के सम्बन्ध में द्विवेदी जी का यह सिद्धान्त था कि हिन्दी में उर्दू, फ़ारसी, मराठी आदि सभी भाषाओं के शब्द ले लेने चाहिएं। केवल संस्कृत से काम न चलेगा। 'यदि तुम सब पराये शब्दों को निकाल दोगे तो हिन्दी में 'कफ़न' तक का टोटा हो जायगा और हिन्दी कदापि समृद्धिशालिनी न बन सकेगी'।

आपने विविध विषयों पर लगभग चालीस पुस्तकें लिखी हैं। आप हिन्दी के इतिहास में 'युगप्रवर्तक' माने जाते हैं।

डा. श्यामसुन्दरदास (१८७५–१९४१)

आपका जन्म बनारस में ला. देवीदास खन्ना के घर जुलाई १८७५ में हुआ और मृत्यु १९४१ में। आप पंजाब के मूलनिवासी थे, पर आपके बुजुर्ग २-३ पीढ़ी से बनारस में जा बसे थे। आपने सन् १८९० में मिडिल तथा १८९२ में मैट्रिक पास किया। फिर वहीं के क्वीन्स कालेज में भरती होकर सन् १८९७ में बी. ए. पास करके आप लखनऊ के ट्रेनिंग कालेज में चले गए। १८९९ में आप सेंट्रल हिन्दू कालेज के स्कूल-विभाग में अध्यापक नियुक्त हुए। तदुपरान्त उन्नति करके कालेज विभाग में प्रोफ़ैसर बने। सन् १९०० में आप के संयुक्त-सम्पादक बनाये गये, पर एक-दो वर्ष बाद ही आपने यह कार्य छोड़ दिया। सन् १९०२ में आप कालेज से छुट्टी लेकर इन्स्पैक्शन विभाग में भरती होकर शिमला आये, परन्तु वहां का उच्च-वायु साम्य न होने से पुनः कालेज में लौट गये। १९०३ में आप काशी छोड़कर कश्मीर चले गये और वहां

श्री पं० चन्द्रधर गुलेरी (१८८३–१९२१)

गुलेरी जी का जन्म जयपुर में एक विख्यात विद्वान घराने में शक सन् १८८३ (२२ आषाढ़ सं० १९४०) को हुआ और परलोक-वास १९२१ में। आप पंजाब के मूल-निवासी थे। आपके पिता पं. शिवराम जी पंजाब के कांगड़ा जिले के गुलेर नामक एक छोटे से रजवाड़े से जयपुर में आ बसे थे। आपके सहोदर श्री पं० जगदीश जी गुलेरी जयपुर ओरियंटल कालेज में अध्यापक थे और अभी हाल में ही (पंजाब-विभाजन के बाद) सर्विस से रिटायर हुए हैं।

गुलेरी जी जहां संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे, वहाँ अंग्रेजी की उच्च शिक्षा से भी संपन्न थे। आप १८९९ में महाराजा कालेज जयपुर में भरती हुए। १९०३ में आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से सर्वप्रथम रहकर बी. ए. पास किया। तदुपरान्त आप मेयो कालेज, अजमेर में अध्यापक नियुक्त हुए। वहाँ से आप हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस में ओरियंटल कालेज के प्रिंसिपल बनकर काशी चले गये और अन्त तक वहीं रहे।

गुलेरी जी जैसे प्रखर विद्वान थे, वैसे ही सरल और विनोद-शील थे। आपकी वैलक्षण-शैली अद्भुत थी। उसमें पाण्डित्यपूर्ण विवेचन, सूक्ष्म सूझ, अर्थगर्भित व्यंग्य तथा एक प्रकार का शिष्ट परिहास पाया जाता है। आपकी चुटकियों और व्यंगपूर्ण वक्रता का आनन्द बहुज्ञ और बहुश्रुत लोगों को ही मिल सकता है।

जयपुर में आपने 'नागरी भवन' की स्थापना की थी। कई वर्षों तक आप 'समालोचक' के संपादक रहे। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का भी आपने कई वर्ष सम्पादन किया। भाषाविज्ञान प्राचीन लेख और लिपियों तथा लिपिकला के सम्बन्ध में आपने अनेक खोज-लेख लिखे हैं। आपकी रचनाओं का एक संग्रह 'गुलेरी ग्रन्थ' (प्रथम खण्ड) के नाम से प्रकाशित हो चुका है। आपका [illegible]

श्री पं० चन्द्रधर गुलेरी (१८८३–१९२१)

गुलेरी जी का जन्म जयपुर में एक विख्यात पण्डित घराने में जून सन् १८८३ (२५ आषाढ़ सं० १९४०) को हुआ और परलोक-वास १९२१ में। आप पंजाब के मूल-निवासी थे। आपके पिता पं. शिवराम जी पंजाब के कांगड़ा जिले के गुलेर नामक एक छोटे से रजवाड़े से जयपुर में आ बसे थे। आपके सहोदर श्री पं० जगदर जी गुलेरी जयपुर एग्रीकल्चर कालेज में अध्यापक थे और अभी हाल में ही (पंजाब-विभाजन के बाद) सर्विस से रिटायर हुए हैं।

गुलेरी जी जहां संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान थे, वहाँ अंग्रेज़ी की उच्च शिक्षा से भी संपन्न थे। आप १८९३ में महाराजा कालेज जयपुर में भरती हुए। १९०३ में आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से सर्वप्रथम रहकर बी. ए. पास किया। तदुपरान्त आप मेयो कालेज, अजमेर में अध्यापक नियुक्त हुए। वहाँ से आप हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस में ओरियंटल कालेज के प्रिंसिपल बनकर काशी चले गये और अन्त तक वहीं रहे।

गुलेरी जी जैसे धुरंधर विद्वान् थे, वैसे ही सरल और विनोद-शील थे। आपकी लेखन-शैली अद्भुत थी। उसमें पाण्डित्यपूर्ण विवेचन, सूक्ष्म सूझ, अर्थगर्भित व्यंग्य तथा एक प्रकार का शिष्ट परिहास पाया जाता है। आपकी चुटकियों और व्यंगपूर्ण वक्रता का आनन्द बहुज्ञ और बहुश्रुत लोगों को ही मिल सकता है।

जयपुर में आपने 'नागरी भवन' की स्थापना की थी। कई वर्षों तक आप 'समालोचक' के संपादक रहे। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का भी आपने कई वर्ष सम्पादन किया। भाषाविज्ञान, प्राचीन लेख और सिक्कों तथा गवेषणा के सम्बन्ध में आपने अनेक लेख लिखे हैं। आपकी रचनाओं का एक संग्रह 'गुलेरी ग्रन्थ' (प्रथम खण्ड) के नाम से प्रकाशित हो चुका है। आपकी एक अमर कहानी 'उसने कहा था' बहुत ही लोकप्रिय हुई है।

'जायसी ग्रन्थावली' (१९२५), 'अमर गीतसार' (१९२६), 'भारतेन्दु-साहित्य' (१९२९) 'काव्य में रहस्यवाद' (१९२९), 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९३०), 'विचार-वीथी' (१९३०), 'गोस्वामी तुलसीदास' (१९३३), 'त्रिवेणी' (१९३६), 'चिन्तामणि'—दो भाग (१९३९) आदि-आदि।

श्री पं० पद्मसिंह शर्मा

आप ज्वालापुर महाविद्यालय में अध्यापक थे। संस्कृत और हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान होते हुए भी आप उर्दू-फ़ारसी भाषा और साहित्य के रसिक पण्डित थे। अपने समय में आप 'खरे' समालोचक माने जाते थे। यद्यपि भाषा की चटक-मटक और किसी सीमा तक अनावश्यक एवं अशिष्ट उछल-कूद शर्मा जी की आलोचनाओं के गाम्भीर्य को अवश्य कम करती है, तथापि सदसद्विवेक, तारतम्य-निरूपण तथा उचित तथ्य-प्रतिपादन के कारण वे निःसन्देह साहित्यिकों के आदर-भाजन हो रहे हैं। आपकी 'सतसई समालोचना' ने हिन्दी में गुणनात्मक समीक्षण की नूतन पद्धति को जन्म दिया जो बाद में इतनी सर्वप्रिय हुई कि कई वर्ष तक लोग इसके पीछे बुरी तरह पड़े रहे।

शर्मा जी की भाषा में एक खास चटपटापन पाया जाता है जो अन्यत्र कम उपलब्ध होता है। उर्दू और फ़ारसी शब्दों का मेल उसे और भी करारा बना देता है। कभी-कभी तो भाव-गाम्भीर्य भाषा के आडम्बर में इतना छिप जाता है कि आजकल के साहित्यिक उस पर नाक-भौं चढ़ाने लगते हैं। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि उनकी भाषा में एक ऐसा ओज और प्रभाव है, जो पढ़नेवाले के दिल पर चोट किये बिना नहीं रहता। श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल जी के शब्दों में "शर्मा जी ने जो कुछ किया है वह अनूठे ढंग से किया है। उनके पद्यपात का भी साहित्यिक मूल्य है।"

'सतसई समालोचना' पर आपको 'साहित्य सम्मेलन' द्वारा १२००) का पुरस्कार मिला था। इसके अतिरिक्त अन्य निबन्धों

लाहौर में आपने 'जात-पात-तोड़क मण्डल' की स्थापना की और १९२२ में 'क्रान्ति' (उर्दू) और युगान्तर (हिन्दी) का सम्पादन किया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के विगत अबोहर के अधिवेशन में आप 'साहित्य परिषद्' के प्रधान थे। आप एकनिष्ठ साहित्यसेवी हैं। अब तक आपकी ४० से ऊपर पुस्तकें और २५० से अधिक लेख प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी और उर्दू दोनों पर आपको समान अधिकार प्राप्त है। आप जिस भी विषय पर लिखते हैं, उसमें आपकी लेखनी पूर्ण अबाध गति का परिचय देती है। समाजसुधार, जातपात का उच्छेद, इतिहास, यात्रा, नारी-शिक्षा, शिशु-पालन, जीवन-चरित, संतति-निग्रह, रति-शास्त्र आदि अनेक विषय आपकी साहित्य-क्रीड़ा के क्षेत्र हैं। 'अलबेरूनी का भारत' पर आपको १९१७ तथा १९२६ में १२००) और 'इत्सिंग की भारत यात्रा' पर १९२६ में ६००) के पुरस्कार पंजाब सरकार की ओर से मिल चुके हैं। 'बालक' पर आपको एक स्वर्णपदक भी मिला था।

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति (जन्म १८८९)

आपका जन्म सन् १८८९ में हुआ। आप पंजाब के सुप्रसिद्ध नेता और गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक श्री स्वामी श्रद्धानन्द (पूर्वनाम महात्मा मुन्शीराम) जी के सुपुत्र हैं। आपकी शिक्षा गुरुकुल कांगड़ी में ही हुई, जहां के आप सर्वप्रथम स्नातक हैं।

आप देशसेवक और राजनैतिक कार्यकर्ता हैं। कई बार जलयात्रा भी कर चुके हैं। कई कांग्रेस कमेटियों के प्रधान तथा मंत्री रह चुके हैं। दलितोद्धार तथा समाजसुधार के कार्यों में भी आप पूरा सहयोग देते हैं।

साथ ही आप सुयोग्य लेखक तथा प्रसिद्ध पत्रकार हैं [illegible]

ए. श्रेणियों) के छात्रों का अध्यापन; वर्तमान में यूनिवर्सिटी के प्रकाशन-विभाग में सम्पादक।

कृतियां—'गुप्तवंश का इतिहास,' 'सूक्ति-स्तवक,' 'प्रस्तावप्रदीपिका,' 'पंजाब में हिन्दी की प्रगति' (नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित) 'अलंकारप्रवेशिका,' 'हृदयकुसुमाकर,' 'नागरिक शिक्षा' आदि-आदि लगभग १६ पुस्तकें। 'गुप्तवंश के इतिहास' पर १९३३ में पंजाब सरकार से ४००) और 'नागरिक शिक्षा' पर १९४२ में पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा ५००) के प्रथम पुरस्कार मिले थे।

श्री आनन्द कुमार (जन्म १९१५)

आप हिन्दी के सुविख्यात साहित्यिक श्री पं० रामनरेश त्रिपाठी के ज्येष्ठपुत्र हैं और स्वयं हिन्दी के उदीयमान लेखक हैं। आपका जन्म १९१५ में हुआ। आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से बी. ए. परीक्षा पास की है। आपके निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं 'हिन्दी कविता का विकास', 'समाज और साहित्य', 'आत्मविकास', 'अंगराज महाकाव्य'। इनके अतिरिक्त एक दर्जन के लगभग बालोपयोगी पुस्तकों के भी आप रचयिता हैं। आपके लेख गहरे अध्ययन और मौलिक सूझ की सूचना देते हैं। भाषा शुद्ध और विषयानुकूल होती है।

श्रीमती राजकुमारी बिन्दल (जन्म १९२६)

श्रीमती बिन्दल का जन्म मेरठ शहर में २३ मई सन् १९२६ को हुआ। आपके पिता श्री रघुनाथप्रसाद जी गाजियाबाद के प्रसिद्ध एडवोकेट हैं। आपने गाजियाबाद के 'कन्या वैदिक हाई स्कूल' से सन् १९४३ में मैट्रिक परीक्षा पास की। अगले ही वर्ष सन् १९४४ में आपका विवाह मेरठ के श्री अमरनाथ जी बिन्दल एम. ए. से सम्पन्न हुआ। श्री अमरनाथ जी भी साहित्यप्रेमी हैं और हिन्दी में एक पुस्तक 'भारतवर्ष में उद्यानकारी' लिख चुके हैं।

उल्लेखनीय–लिखने के योग्य।
मुआइना–निरीक्षण, परीक्षण।
दरजा–श्रेणी, क्लास।
तैनात–नियुक्त, नियत, मुकर्रर।
कायम–स्थिर।
काजी–जज, भले बुरे की आलोचना करने वाला (शब्दार्थ-कज़ा = मौत का हुक्म देने वाला)।
सबक–पाठ, शिक्षा।
कॉवर–बहँगी, बाँस का डंडा जिसके दोनों सिरों पर छिक्के लटकाते हों—जैसी पानी भरने वालों के पास होती है।
[illegible] वह निश्चय।
ऐतिहासिक इतिहास का, सच्चा, असल।

(२) हाई स्कूल में

[illegible]–वजीफ़।
सौराष्ट्र [illegible] काठियावाड़।
[illegible] अधिकारी [illegible]।
[illegible] निमह, [illegible]।
[illegible]–[illegible]।
[illegible]–[illegible], [illegible]।
[illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible]
[illegible] [illegible]
[illegible]

अध्ययन–पढ़ाई, पढ़ना।
उपर्युक्त–ऊपर कही हुई।
सुलभ–सुगम, आसान।
समावेश–अन्दर आजाना, शामिल होना।

साहित्य की महत्ता

श्री-संपन्नता समृद्धि।
उत्कर्षापकर्ष–उन्नति और अवनति।
क्षमता–शक्ति।
निष्क्रिय–निकम्मा।
विकार ग्रस्त–विकृत, जिसमें कोई विकार या दोष आ गया हो।
विसर्जन छोड़ना भगा देना।
पोप की प्रभुता योरुप की १५वीं तथा १६वीं शताब्दी की पुनर्जागृति (रिनायसैंस) के फलस्वरूप, लूथर कालविन आदि की रचनाओं ने पोप (धर्मगुरु) के महत्व को कम कर दिया था।
फ्रांस में प्रजा की सत्ता फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक [illegible] और [illegible] प्रभृति के [illegible] ने १७८० के [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] और

संसरण—सरकना, जलना-फिरना।
विचित्र-समन्वय—अद्भुत मिलान, अनूठा मेल मिलाप।

मज़दूरी और प्रेम

हवनशाला—हवन करने का स्थान, यज्ञशाला।
दीदार—स्वरूप, दर्शन।
हमराज़—साथी, मित्र, समान रहस्यवाला।
बाली—मालिक, स्वामी
बे मकान—बे घर, जिसका कोई स्थायी घर नहीं।
बे नाम—अज्ञात, जिसे कोई नहीं जानता।
[illegible]—[illegible], [illegible]।
[illegible]—जिसका कोई मकान नहीं।
[illegible]—[illegible]।
[illegible]—[illegible]।
[illegible]—[illegible]।
[illegible]—[illegible]
[illegible]—[illegible]
[illegible]
[illegible]

आर्ट—कला।
पद्मासन—योग का एक आसन
बे-ज़बान—मूक, जिसकी ज़बान न हो, गूंगा, दुर्बल।
औलिया—ओझा, फ़कीर।
जोन आव् आर्क—फ्रांस की एक लड़की का नाम।
टाल्सटाय—एक विख्यात साहित्यकार।
उमरखैयाम—एक प्रसिद्ध फ़ारसी कवि।
खलीफ़ा उमर—इस नाम का एक बादशाह।
कबीर—प्रसिद्ध सन्त जो जुलाहा था।
रैदास—इस नाम का प्रसिद्ध भक्त जो चमार था।
निमंत्रण—[illegible], बुलावा
कलावती—कला में निपुण कारीगर।
[illegible]—[illegible]
[illegible]—[illegible]
[illegible]—[illegible]
[illegible]—[illegible]
[illegible]—[illegible]
[illegible]—[illegible]

हुक्म-उदूली–आज्ञाभङ्ग, हुक्म न मानना।

विजन–'मारो, काटो' का शाही हुक्म।

क़हर–दारुण अत्याचार, क्रोध, जुल्म।

नाज़िल–अवतरण, ऊपर से आना।

कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं समर्थः जो 'करने', 'न करने' अथवा 'और तरह से करने' में समर्थ हो, सर्वतंत्रस्वतंत्र', निरंकुश।

हुक्मे-हाकिम, मर्गे-मफ़ाजात–हाकिम का हुक्म अचानक मौत है। राजा की आज्ञा अचानक मृत्युतुल्य होती है।

तर्ज़ हुकूमत–राज्य-प्रणाली।

प्रमाण-पुरःसर–प्रमाणों और युक्तियों सहित।

आदिल–न्यायकारी, अदल, इन्साफ़ करने वाला।

ख़म–टेढ़ा करके, झुकाकर, मोड़ देकर।

शशी-शुभ्र–चन्द्रमा के समान सफ़ेद।

हिलाक–मर गया।

कीर्तिर्यस्य स जीवति–जिसका यश जीता है, वही जीता है। अतः है वह जिसकी कीर्ति हो।

भेड़ियों द्वारा पाले हुए लड़के

वनैले–वन में रहनेवाले, वन्य, जंगली।

आक्रमण–प्रहार, हमला।

खग–पक्षी।

जियोलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया–भारतीय भूगर्भविद्या-सम्बन्धी निरीक्षण विभाग।

कन्दरा–गुफा।

ले-पालक–लेकर पालन-पोषण करनेवाले (दत्तकपुत्र के माता-पिता)।

उद्धरण–उद्धृत सन्दर्भ, निकाला हुआ भाग।

अधिष्ठाता–अधिपति, मुख्य प्रबन्धक।

विवर–छेद, सूराख़, बिल।

कपोलकल्पित–मनगढ़ंत, झूठी।

स्वाधीनता

मरु-स्थल–रेगिस्तान, मरुभूमि।

विवेकशील–विचारवान्, भले-बुरे को पहचान कर सकनेवाला।

पोरे-पोरे–प्रत्येक पोरी में, रोम-रोम में, सर्वत्र।

आतिथ्य–अतिथि सत्कार।
चमन–फलों का बाग।
दीदार–दर्शन।
भस्मसात्–भस्मीभूत, खाक में मिलाना।
जनि–मत।
मर्मभेदिनी–मर्मस्थलों को तोड़ने वाली, मार देनेवाली।
पर-पीर–दूसरे की पीड़ा।
बे-पीर निगुरा, बिना पीर (गुरु) के (दुष्ट)।

मनुष्य और समाज

सहज-प्रवृत्ति–स्वाभाविक या प्राकृतिक प्रवृत्ति, जो बिना सिखाये ही मनुष्यों और दूसरे पशुओं में पाई जाती है।
सुसज्जित अच्छी तरह तैयार।
मुहताज–आश्रित निर्भर।
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

इतर–दूसरे, अन्य।
अकिञ्चित्कर–कुछ भी न कर सकने योग्य, निकम्मा।
संपर्क–लगाव, सम्बन्ध।
कल–मशीन।
उपादेयता–ग्रहण करने की योग्यता, उपयोगिता।
नगण्य–जिसकी कोई गिनती नहीं।
उपेक्षणीय–उपेक्षा या निरादर के योग्य।
अवहेलना–उपेक्षा, निरादर।
अन्ततोगत्वा–आखिरकार।
अवलम्बित–निर्भर।
आधारनियम–वे नियम जिन पर नींव खड़ी हो, बुनयादी उसूल।
अदम्य–न दबाया जा सकने वाला।
परहित-साधन–दूसरे का भला करना, परोपकार।
कर्तव्यपरायणता–अपने कर्तव्य-ऊरज को पूरा करने की आदत।
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]